वामन राव और अन्य
बनाम
भारत संघ और अन्य

(Waman Rao and Others)
v.
Union of India and Others)

हनमंत राव
बनाम
भारत संघ और अन्य

(Hanmantrao
v.
Union of India and Others)

चन्द्र शेखर और एक अन्य
बनाम
भारत संघ और अन्य

(Chandra Shekar and Another
v.
Union of India and Others)

विट्ठल राव
बनाम
महाराष्ट्र राज्य

(Vithalrao
v.
State of Maharashtra)

1980(11) eILR(PAT) SC 1

तथा

श्री बाबूराव उर्फ पी० बी० सामंत

बनाम

भारत संघ

(Shri Baburao alias P. B. Samant

v.

Union of India)

(13 नवम्बर, 1980)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, वी० आर० कृष्ण अय्यर, वी० डी० तुलजापुरकर और ए० पी० सेन)

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951—धारा 4 एवं संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955, धारा 3—विधिमान्यता—उक्त धाराएं संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त नहीं करती हैं और वे संसद् की सांविधानिक शक्ति में होने से विधिमान्य और सांविधानिक हैं।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 31-क तथा संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951—विधिमान्यता—अनुच्छेद 31-क विधिमान्य है और उक्त संशोधन, जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-क अन्तःस्थापित हुआ है, संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है, इसलिए विधिमान्य है—अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण का नियम लागू किया जा सकता है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 31-ख और नवम् अनुसूची—तारीख 24 अप्रैल, 1973 से पूर्व नवम् अनुसूची में सम्मिलित सब अधिनियमों और विनियमों को अनुच्छेद 31-ख का पूर्ण संरक्षण प्राप्त होगा—उन विधियों और विनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे संविधान के भाग 3 के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं अथवा उन्हें छीनते या न्यून करते हैं—ऐसे अधिनियमों और विनियमों को, जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में सम्मिलित किए गए हैं या सम्मिलित किए जाएंगे, अनुच्छेद 31-ख

1980(11) eILR(PAT) SC 1

का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा—विभिन्न सांविधानिक संशोधन, जिनके द्वारा तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में परिवर्धन किए गए थे, विधिमान्य केवल तभी होंगे जब वे संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करते हैं'।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 31-ग (जैसा कि वह बयालीसवें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा किए गए संशोधन से पूर्व विद्यमान था) --विधिमान्यता—उक्त अनुच्छेद संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी को या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है।

लोकसभा (कालावधि का विस्तारण) अधिनियम, 1976 (1976 का 30)—धारा 2—लोकसभा (कालावधि का विस्तारण) संशोधन अधिनियम, 1976 (1976 का 109) धारा 2—विधिमान्यता—दोनों अधिनियम विधिमान्य हैं—चालीसवें और बयालीसवें संविधान संशोधन इस आधार पर अभिखण्डित नहीं किए जा सकते कि वे ऐसी लोकसभा द्वारा पारित किए गए थे जो वैध रूप से अस्तित्व में नहीं थी।

महाराष्ट्र एग्रीक्लचरल लैण्ड्स (सीलिंग आन होल्डिंग्ज) ऐक्ट, 1961 (1961 का 27) द्वारा, जो 26 फरवरी, 1962 को प्रवृत्त किया गया था, महाराष्ट्र राज्य में कृषि जोतों पर अधिकतम सीमा अधिरोपित की गई थी। उस अधिनियम (मूल अधिनियम) द्वारा नियत अधिकतम सीमा कम कर दी गई थी और 1975 के अधिनियम सं० 21 और 47 तथा 1976 के अधिनियम सं० 2 द्वारा उस अधिनियम में कतिपय अन्य संशोधन किए गए थे। इन अधिनियमों की विधिमान्यता को 2660 से भी अधिक के बड़े समूह के पिटीशनों में मुम्बई उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी। नागपुर स्थित उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने उस चुनौती को नामंजूर कर दिया था। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उपर्युक्त अधिनियमों के उपबन्धों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार से असंगत हैं अथवा उन्हें छीनते हैं या न्यून करते हैं चूंकि उन अधिनियमों को संविधान (सतरहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 द्वारा और संविधान (चालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में रख दिया गया था और आपात स्थिति प्रख्यापित कर दिए जाने के परिणामस्वरूप

1980(11) eILR(PAT) SC 1

संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 के अधीन अधिकारों को प्रवृत्त नहीं किया जा सकता था। उच्च न्यायालय ने स्वयं अनुच्छेद 31-ख की विधिमान्यता की चुनौती को भी नामंजूर कर दिया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 (जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-ख जोड़ा गया था) संविधान के मूल ढांचे को नुकसान पहुंचाना तो दूर उसके मूल सांविधानिक प्रयोजन की पूर्ति करके उसके ढांचे की पुष्टि करता है।

मुम्बई उच्च न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध फाइल की गई अपीलें इस न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई थीं। उन अपीलों में एकमात्र मुद्दा, जिस पर बहस की गई थी यह था कि यथा संशोधित मूल अधिनियम अनुच्छेद 31क(1) के द्वितीय परन्तुक का अतिक्रमणकारी होने से शून्य था। उपर्युक्त अपीलों में इस न्यायालय का निर्णय तारीख 27 जनवरी, 1977 को दिया गया था जब कि आपात की उद्घोषणा प्रवृत्त थी। उस उद्घोषणा के प्रतिसंहरण पर अपीलार्थियों द्वारा इस न्यायालय में पिटीशन फाइल किए गए थे और इस न्यायालय द्वारा पहले दिए गए निर्णय का पुनर्विलोकन करने के लिए इस आधार पर प्रार्थना की गई थी कि कई दलीलें, जो आक्षेपित अधिनियमों की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए उनके द्वारा दी जा सकती थी, आपात स्थिति के कारण नहीं दी जा सकीं और उन्हें वे दलीलें देने के लिए अनुज्ञात किया जाए चूंकि आपात स्थिति उठा ली गई थी। इस न्यायालय में नवीन रिट पिटीशन भी फाइल किए गए थे जिनमें वे ही दलीलें दी गई थीं। इस न्यायालय द्वारा अपने पूर्ववर्ती निर्णय का पुनर्विलोकन करने की प्रार्थना स्वीकार कर लिए जाने से ये मामले अपीलों में अन्तर्वलित अन्य मुद्दों पर विचार के लिए हमारे समक्ष पेश किए गए हैं। इन कार्यवाहियों में मुख्य चुनौती अनुच्छेद 31-क, 31-ख और असंशोधित अनुच्छेद 31-ग की संवैधानिकता को दी गई है। रिट पिटीशन और पुनर्विलोकन पिटीशन खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—संविधान संशोधन (विशेषतया प्रथम संशोधन) संविधान के लागू होने के तुरन्त पश्चात् ही किए गए थे अतः उन्हें वस्तुतः स्वयं संविधान का ही एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिए। ये संशोधन पश्चात्वर्ती विचारों से उत्पन्न नहीं हुए हैं और ये संविधान के लिए नए प्रतीत नहीं होते हैं जिससे कि लोगों को संविधान के लाभों से वंचित किया जा सके। वे सही अर्थ में, संविधान की समकालीन व्यावहारिक व्याख्या हैं। (पैरा 26)

संविधान के अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) यह निदेश देते हैं कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। राज्य की नीति के ये दो सिद्धान्त संविधान के इस प्रकार से भाग थे जैसे वे मूल रूप से अधिनियमित किए गए हों तथा इन निदेशक तत्वों के प्रयोजन को प्रभावी करने के लिए ही प्रथम और चतुर्थ संशोधन पारित किए गए थे। (पैरा 27)

इस प्रकार प्रथम संशोधन ने जीवन की सच्चाई के रूप में समान न्याय का सांविधानिक आदर्श पेश किया है। वह ऐसे दर्पण के समान है जो संविधान के आदर्शों को प्रतिबिम्बित करता है। वह संविधान के मूल ढांचे को नष्ट करने वाला नहीं है। कृषि प्रयोजनों और उससे आनुषंगिक प्रयोजनों के लिए धारित या भाटक पर दी गई भूमियों में अधिकारों के निर्वापन या उपान्तरण के लिए प्रथम और चतुर्थ संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित उपबन्ध संविधान के मूल ढांचे को कमजोर करने की बजाय सुदृढ़ करते हैं। (पैरा 29)

प्रथम संशोधन का उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करना है। यह हो सकता है कि विद्यमान असमानताओं को दूर करते समय सीमांत और आकस्मिक रूप से नई विषमताएं उद्भूत हो सकती हैं। ऐसी सीमांत और आकस्मिक असमानताएं संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं कर सकती। तथापि विशेषज्ञ रूप से सलाह प्राप्त की हुई, सामाजिक रूप से प्रेरित और प्रज्ञावान रूप से व्यवस्थित किसी भी सरकार के लिए ऐसे व्यक्तियों के वर्ग को, जो विधि के अधीन समान व्यवहार प्राप्त करने के लिए हकदार हैं, कुछ कठिनाई या अन्याय कारित किए बिना प्रत्येक आर्थिक असमानता को दूर करना सम्भव नहीं है। (पैरा 30)

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 4 द्वारा अन्तःस्थापित संशोधन संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है, इसलिए उस संशोधन को उसकी अपनी गुणता के आधार पर क़ायम रखा जाना चाहिए। (पैरा 32)

अनुच्छेद 31क को विद्यमान रूप में उस समय से मान्यता देनी पड़ी है जब से वह संविधान में अन्तःस्थापित किया गया था इसलिए उस अनुच्छेद

1980(11) eILR(PAT) SC 1

को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को लागू करना कुछ कठिन है। (पैरा 35)

निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पूर्ववर्ती विनिश्चयों या बहुत लम्बी अवधि के विनिश्चयों पर ही विचार किया जाना चाहिए तथा किसी ऐसे विशेष तर्क को स्वीकार या नामंजूर किया जाना चाहिए जैसा प्रस्तुत मामले में दिया गया है। यदि ऐसा होता, तो पूर्ववर्ती विनिश्चयों को बहुत ही सरलता से पूर्वोदाहरण विधि को लागू करके आबद्धकारी रूप में माना जा सकता है और निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का अवलम्ब लेना आवश्यक होगा। इसलिए निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए यह पर्याप्त है कि ऐसे किसी प्रश्न पर कोई निश्चित विनिश्चय किया गया हो जो तभी हुआ हो। इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि किस आधार पर विनिश्चय आधारित है या विनिश्चय का आधार क्या है। अन्य शब्दों में निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के प्रयोजन के लिए इस बात की जांच करना या अवधारण करना अनावश्यक है कि ऐसे पूर्ववर्ती विनिश्चय का विनिश्चयाधार क्या था जिसे निर्णीतानुसरण के रूप में प्रवृत्त होना कहा गया है। इसलिए वह कारण, जिससे अनुच्छेद 31क को पूर्ववर्ती विनिश्चयों में कायम रखा गया था, यदि वास्तव में वही था, इस बात का विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए संगत नहीं है कि क्या यह एक उचित मामला है जिसमें उस नियम को लागू किया जा सकता है। किन्तु चार ऐसे प्रमुख कारण हैं जिनसे हम अनुच्छेद 31क की सांविधानिकता का विनिश्चय करने के लिए निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए प्रेरित नहीं हैं। प्रथमतः, अनुच्छेद 31क अपने स्वयं के महत्व के कारण अस्तित्व में है और हमारे संविधान के मूल लक्षणों पर आधारित है। उसकी अलिखित परिधि संविधान के मूल ढांचे का ही अभिन्न अंग हैं और जैसा कि उसे होना चाहिए, वह उन आदर्शों के लिए एक दर्पण है जिन्होंने संविधान के निर्माण के लिए प्रेरित किया था। (पैरा 41)

निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त, यदि लागू किया जा सकता है, तो वह इन अनुच्छेदों द्वारा संरक्षित विधियों को लागू किया जा सकता है यदि उन विधियों को बहुत लम्बे समय से इन अनुच्छेदों का संरक्षण प्राप्त हुआ हो। किन्तु, यह सिद्धान्त स्वयं अनुच्छेदों को लागू नहीं हो सकता। निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त ऐसी विधियों की व्यावृति करने के लिए अनुज्ञात करता है जिसकी विधिमान्यता को कई वर्षों से स्वीकार किया गया है या मान्यता दी गई है। वह भविष्य

1980(11) eILR(PAT) SC 1

में भी ऐसी अपेक्षा नहीं करता है या स्वीकृति नहीं देता है कि विधियां उस समय भी पारित कर दी जाएं जब वे अविधिमान्य या असांविधानिक हों। अवैधता की भविष्य की तैयारी निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का भाग नहीं है। (पैरा 44)

अत: जहां तक नवम् अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31ख की विधिमान्यता का सम्बन्ध है, यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि 24 अप्रैल, 1973 से पूर्व नवम् अनुसूची में सम्मिलित सब अधिनियमों और विनियमों को अनुछेद 31ख का पूर्ण संरक्षण प्राप्त होगा। उन विधियों और विनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि वे संविधान के भाग 3 के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं या उन्हें छीनते या न्यून करते हैं। ऐसे अधिनियमों और विनिनियमों को जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में सम्मिलित किए गए हैं या सम्मिलित किए जाएंगे, इस स्पष्ट कारण से अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा कि इस न्यायालय द्वारा पहले दिए गए निर्णय को देखते हुए नवम् अनुसूची में परिवर्धन करने के लिए कोई न्यायोचितता नहीं थी जिससे कि उसमें सम्मिलित विधियों को पूर्ण संरक्षण दिया जा सके। विभिन्न सांविधानिक संशोधन, जिनके द्वारा तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में परिवर्धन किए गए थे, विधिमान्य केवल तभी होंगे जब वे संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करते हैं। (पैरा 52)

यदि अनुच्छेद 31क की विधिमान्यता को उसके अपने गुणागुण के आधार पर कायम रखना सही है तो उसका तर्कसंगत परिणाम यह है कि असंशोधित अनुच्छेद 31ग भी विधिमान्य है। अनुच्छेद 31ग का असंशोधित भाग असीमित समुद्र जैसा नहीं है। वह निश्चित और सीमित प्रवर्ग की ऐसी विधियों को संरक्षण देता है जो अनुच्छेद 39 के खंड (ख) या खंड (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धातों को सुनिश्चित करने के बारे में राज्य की नीति को कार्यान्वित करने के लिए पारित की गई हैं। अनुच्छेद 39 के इन खंडों में ऐसे नीति निदेशक तत्व अन्तर्विष्ट हैं जो देश की भलाई और उसकी जनता के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण हैं। अनुच्छेद 31क द्वारा परिकल्पित विधियों के निश्चित प्रवर्ग के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उसे अनुच्छेद 39 के खंड (ख) और (ग) को कार्यान्वित करने के प्रयोजन के लिए पारित विधियों के सम्बन्ध में शायद अधिक बलपूर्वक ठीक माना जाना चाहिए। यह बात स्वीकार करना असम्भव है कि ऐसे प्रयोजन के लिए पारित कोई

भी विधि अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19 का कुछ भी अतिक्रमण कर सकती है। अनुच्छेद 31 अब खतरे से बाहर है। वास्तव में अनुच्छेद 39 के खंड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए सही और सद्भाविक रूप से पारित विधियां संविधान के मूल ढांचे को हानि पहुंचाने की बजाय उस ढांचे को मजबूत करेंगी। संसद् अनुच्छेद 39 के खंड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट सिद्धान्तों से सम्बन्धित वास्तविक और सही विधियों को पारित करने में अपनी क्षमता का अधिकतम उपयोग करेगी। इसलिए असंशोधित अनुच्छेद 31ग के प्रथम भाग की विधिमान्यता को दी गई चुनौती असफल होती है। (पैरा 55)

लोकसभा (कालावधि का विस्तारण) अधिनियम, 1976 तथा लोक-सभा (कालावधि का विस्तारण) संशोधन अधिनियम, 1976 विधिमान्य और वैध हैं जिनके द्वारा लोकसभा की कालावधि बढ़ाई गई थी। इसलिए चालीसवें और बयालीसवें संविधान संशोधनों को इस आधार पर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि वे ऐसी लोकसभा द्वारा पारित किए गए थे जो वैध रूप से अस्तित्व में नहीं थी। (पैरा 63)

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से संविधान में अनुच्छेद 31क जोड़ा गया था और संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 की धारा 3, जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से मूल खंड (1) के स्थान पर नवीन खण्ड (1) और उपखण्ड (क) से (ङ) तक जोड़े गए थे, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी भी लक्षण या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त नहीं करते हैं और वे संसद् की संविधायी शक्ति में होने से विधिमान्य और संवैधानिक हैं। संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31ख जोड़ा गया था। संविधान के ऐसे सब संशोधन, जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 से पहले किए गए थे और जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को सम्मिलित करके उसका समय-समय पर संशोधन किया गया था, विधिमान्य और सांविधानिक हैं। तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए संविधान के संशोधनों को, जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को जोड़ कर के समय-समय पर उसका संशोधन किया गया था, इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे या उनमें से कोई एक या अनेक संसद की सांविधानिक शक्ति से बाहर हैं चूंकि वे संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करते हैं। ऐसे पश्चात्वर्ती

1980(11) eILR(PAT) SC 1

सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में यह कहने के सिवाय कोई और निर्णय नहीं दिया जाता है कि यदि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा नवम् अनुसूची में सम्मिलित कोई अधिनियम या विनियम अनुच्छेद 31क या अनुच्छेद 31ग द्वारा, जैसा कि वह उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, व्यावृत किया जाता है तो ऐसे सुसंगत सांविधानिक संशोधन को, जिसके द्वारा वह अधिनियम या विनियम नवम् अनुसूची में रखा गया है, विधिमान्यता की चुनौती इस आधार पर निर्थक हो जाएगी कि संशोधन, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करते हैं, जैसा कि अनुच्छेद 14, 19 या 31 में परिलक्षित होता है। संविधान का अनुच्छेद 31ग, जैसा कि वह संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 4 द्वारा उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, उस सीमा तक विधिमान्य है जिस तक कि उसकी सांविधानिकता को इस न्यायालय द्वारा दिए गए पूर्ववर्ती विनिश्चय में कायम रखा गया था। अनुच्छेद 31ग जैसा कि संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम 1976 से पूर्व विद्यमान था, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किन्हीं को या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है। (पैरा 64)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1981]	[1981] 3 उम० नि० प० 146=[1980] 3 एस० सी० सी० 625 : **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ** (Minerva Mills Ltd. *v.* Union of India);	10, 16, 57, 65, 67
[1981]	[1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० सी० 719 : **अम्बिका प्रसाद मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** (Ambika Prasad Mishra *v.* State of Uttar Pradesh);	36, 66, 68
[1981]	[1981] 2 उम० नि० प० 1114= ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 568 : **थुमाटी वेंकय्या बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य** (Thumati Venkaiah *v.* State of Andhra Pradesh);	36

1980(11) eILR(PAT) S

[1978] [1978] 1 उम० नि० प० 1102=[1977] 2 एस० सी० आर० 790 :
दत्तात्रेय गोविन्द महाजन बनाम महाराष्ट्र राज्य
(Dattatraya Govind Mahajan *v.* State of Maharashtra); 2, 3

[1977] ए० आई० आर० 1977 मुम्बई 99 :
विट्ठलराव उधवराव उत्तरवार बनाम महाराष्ट्र राज्य
(Vithalrao Udhaorao Uttarwar *v.* State of Maharashtra); 1

[1976] [1976] 4 उम० नि० प० 1103=[1976] 2 एस० सी० आर० 347 :
श्रीमती इन्दिरा गांधी बनाम राजनारायण
(Smt. Indira Gandhi *v.* Raj Narain); 16, 17

[1973] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1 :
केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य
(Kesavananda Bharti *v.* State of Kerala); 4, 9, 10, 16, 17, 33, 34, 36, 42, 50, 51, 53, 54, 64, 65

[1968] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 623 :
आयकर अधिकारी, टूटीकोरिन बनाम टी० एस० डी० नाडार
(I. T. O. Tuticorin *v.* T. S. D. Nadar); 39

[1967] [1967] 2 एस० सी० आर० 762 :
आई० सी० गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य
(I. C. Golaknath *v.* State of Punjab); 33, 42

[1965] [1965] 1 एस० सी० आर० 933 :
सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य
(Sajjan Singh *v.* State of Rajasthan); 33, 42

1980(11) eILR(PAT) SC 1

[1955]	[1955] 2 एस० सी० आर० 603 : बंगाल इम्यूनिटी का मामला (In re. Bengal Immunity);	39
[1955]	[1955] 348 यू० एस० 236 : यू० एस० बनाम इंटरनेशनल बाक्सिंग क्लब (U. S. v. International Boxing Club);	43
[1952]	[1952] एस० सी० आर० 89 : शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (Shankri Prasad v. Union of India);	19, 33, 42, 43
[1946]	[1946] 326 यू० एस० 572 : न्यूयार्क बनाम यूनाइटेड स्टेट्स (New York v. United States);	43
[1924]	[1924] 264 यू० एस० 219 : स्टेट आफ वाशिंगटन बनाम डब्ल्यू० सी० डाउसन एण्ड कम्पनी (State of Washington v. W. C. Dawson & Co.);	43
[1916]	[1916] एन० वाई० 382 : मैकफर्सन बनाम ब्यूक मोटर कम्पनी (Macpherson v. Buick Motor Co.);	43
[1914]	[1914] 18 सी० एल० आर० 54 : ट्रामवेज केस (सं० 1) [The Tramways Case (No. 1)];	39
	285 यू० एस० 393 : बर्नेट बनाम कोरोनेडो आयल एण्ड गैस कम्पनी (Burnet v. Coronado Oil & Gas Co.);	38
	5 लायर्स एडीसन सैकण्ड यू० एस० 492 : जेम्स मूनरो बनाम फ्रैंक पापे (James Monroe v. Frank Pape).	43

1980(11) eILR(PAT) SC

आरम्भिक अधिकारिता : 1977 के रिट पिटीशन सं० 656-660, 512-533, 503-511, 63 और 1977 के पुनर्विलोकन पिटीशन 34, 62-65, 66-72, 73-74, 75-77, 78-81, 82, 83-84, 85, 86-87, 88, 88-90, 91-92, 93-94, 95, 95ए, 96, 103-107, 110, 120, 121, 122-130.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशन

पिटीशनरों की ओर से (पुनर्विलोकन पिटीशन सं० 34 62-95, 95ए, 96, 103-107, 120-121 में) और (रिट पिटीशन सं० 656-660, 503-511/77 में)	सर्वश्री एम० एन० फड़के [पुनर्विलोकन पिटीशन सं० 34 तथा रिट पिटीशन सं० 512, 656 और 503/77 में] एन० एम० घटाटे, एस० एन० बापत और एस० वी० देशपांडे
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन 110, 122-130 में)	श्री एम० एस० गुप्त
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन 512-533 में)	सर्वश्री एस० एन० खैरदिकर, एम० एन० इंगले, ए० जी० रत्नपारखी और सी० के० रत्नपारखी
प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से (रिट पिटीशन 503-511, 512-533, 656-660 और पुनर्विलोकन पिटीशन 34, 62-65 में)	श्री एस० वी० गुप्ते (रिट पिटीशन 503, 512, 533 और 656/77 में) श्री के० एच० भट्ट, आर० एन० सचदे तथा कुमारी ए० सुभाषिणी
प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से (रिट पिटीशन 34 और 62-65 में) प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से (रिट पिटीशन 503-533 में) और **प्रत्यर्थी सं० 2 और 3 की ओर से** (रिट पिटीशन 656-660 में)	श्री एस० वी० गुप्ते, महान्यायवादी (रिट पिटीशन 34 में), श्री सी० जे० सावंत सरकारी अधिवक्ता (रिट पिटीशन 656 और 533 में) श्री एम० सी० भंडारे (रिट पिटीशन 656 और 533 में) श्री एम० बी० बोर तथा एन० एन० श्राफ
महा न्यायवादी की ओर से	श्री एस० वी० गुप्ते, महान्यायवादी, और कुमारी ए० सुभाषिणी

राजस्थान राज्य की ओर से (रिट पिटीशन 656 में)	श्री आर० के० रस्तोगी, राजस्थान के महाधिवक्ता, श्री जे० एस० रस्तोगी सरकारी अधिवक्ता, राजस्थान और श्री बद्रीदास शर्मा
उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से	सर्वश्री जी० एन० दीक्षित और एम० वी० गोस्वामी
जम्मू-कश्मीर राज्य की ओर से (रिट पिटीशन 533 और 656 में)	श्री अलताफ अहमद
महाधिवक्ताओं की ओर से—	
1. बिहार राज्य की ओर से	सर्वश्री यू० पी० सिंह और शम्भू नाथ झा
2. केरल राज्य की ओर से	सर्वश्री एम० एम० अब्दुल कादिर और के० आर० नम्बियार
3. उड़ीसा राज्य की ओर से	सर्वश्री बी० एम० पटनायक और आर० के० मेहता
4. कर्नाटक राज्य की ओर से	सर्वश्री के० एम० के० नय्यर और एन० नेत्तार
5. तमिलनाडु राज्य की ओर से	सर्वश्री के० एम० के० नय्यर और एन० नेत्तार
मध्यक्षेपी की ओर से (प्रताप राव 503 में)	डाक्टर वी० एन० गनपुले
श्याम नारायण तिवारी की ओर से (रिट पिटीशन 512/77 तथा पुनर्विलोकन पिटीशन 34/77 में)	श्री आर० के० गर्ग
पंचवैली कोल कम्पनी और श्री बिमल पोद्दार की ओर से (रिट पिटीशन 512/77 में)	सर्वश्री आर० एन० बनर्जी और जे० एस० सिन्हा और जे० बी० डी० एंड कंपनी
रानीगंज कोल एसोसिएशन लिमिटेड कलकत्ता की ओर से	कोई नहीं
कुंदन मल डबरीवाला, दिल्ली की ओर से	कोई नहीं

1980(11) eILR(PAT) SC 1

अपीलार्थी/मध्यक्षेपी (ले० कर्नल हिम्मत सिंह और अन्य)	श्री जी० एस० सांघी, कुमारी भुबनेश कुमारी, श्री के० जे० जान और मैसर्स जे० बी० दादाचंजी एण्ड कम्पनी
अपीलार्थी/मध्यक्षेपी की ओर से (रिट पिटीशन 342 और 343/77 तथा रिट पिटीशन 63 में)	श्री एस० बी० बाड

आदेश

(1) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से संविधान में अनुच्छेद 31-क जोड़ा गया था और संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 की धारा 3, जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से मूल खण्ड (1) के स्थान पर नवीन खण्ड (1) और उपखण्ड (क) से (ङ) तक जोड़े गए थे, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी भी लक्षण या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त नहीं करती है और वे संसद् की संविधायी शक्ति में होने से विधिमान्य और सांविधानिक है।

(2) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-ख जोड़ा गया था, जो इस प्रकार है—

"31ख—अनुच्छेद 31-क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम् अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों में से और उसके उपबन्धों में से कोई इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुआ न समझा जाएगा कि वह अधिनियम, विनियम या उपबन्ध इस भाग के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनता या न्यून करता है, और किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश के होते हुए भी, उक्त अधिनियमों और विनियमों में से प्रत्येक, उसे निरसित या संशोधित करने की किसी सक्षम विधान-मंडल की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बना रहेगा।'

केशवानन्द भारती के मामले[1] में जिसका विनिश्चय तारीख 24 अप्रैल, 1973 को किया गया था, बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संसद्

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

को सांविधान में ऐसा कोई संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है जिससे कि संविधान का मूल ढांचा या उसके आवश्यक लक्षण क्षतिग्रस्त या नष्ट हों। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के ऐसे सब संशोधन, जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 से पहले किए गए थे और जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को सम्मिलित करके उसका समय-समय पर संशोधन किया गया था, विधिमान्य और सांविधानिक हैं। तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए संविधान के संशोधनों को, जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को जोड़ कर समय-समय पर उसका संशोधन किया गया था, इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वे या उसमें से कोई एक या अनेक संसद् की सांविधानिक शक्ति से बाहर हैं और वे संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करते हैं। हम ऐसे पश्चात्-वर्ती सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में यह कहने के सिवाय कोई निर्णय नहीं देते हैं कि यदि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा नवम् अनुसूची में सम्मिलित कोई अधिनियम या विनियम अनुच्छेद 31-क या अनुच्छेद 31-ग द्वारा, जैसा कि वह उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, व्यावृत्त किया जाता है तो ऐसे सुसंगत सांविधानिक संशोधन की, जिसके द्वारा वह अधिनियम या विनिमय नवम् अनुसूची में रखा गया है, विधिमान्यता की चुनौती इस आधार पर निरर्थक हो जाएगी कि संशोधन संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करते हैं जैसा कि अनुच्छेद 14, 19 या 31 में परिलक्षित होता है।

(3) संविधान का अनुच्छेद 31-ग, जैसा कि वह संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 4 द्वारा उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, उस सीमा तक विधिमान्य है जिस तक कि उसकी सांविधानिकता को केशवानन्द भारती के मामले[1] में कायम रखा गया था। अनुच्छेद 31-ग, जैसा कि वह संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम 1976 से पूर्व विद्यमान था, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी को या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है।

(4) महाराष्ट्र एग्रीकलचरल लैण्ड्स सीलिंग ऐक्ट्स की विधिमान्यता से सम्बन्धित सब रिट पिटीशनें और पुनर्विलोकन पिटीशनें खर्चे सहित खारिज की जाती हैं। इन मामलों में मंजूर किए गए रोक आदेश रद्द हुए माने

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

जाएंगे। हम खर्चे की रकम 5000 रुपये तक करते हैं जो 1977 के रिट पिटीशन सं० 656-660 और 1977 के रिट पिटीशन सं० 512-533 और 1977 के रिट पिटीशन सं० 505-511 के पिटीशनरों द्वारा समान रूप से वहन किया जाएगा। खर्चा भारत संघ और महाराष्ट्र राज्य को बराबर दिया जाएगा।

(5) 1977 का रिट पिटीशन सं० 63 (बाबूराव सामंत बनाम भारत संघ) सुनवाई के लिए रखा जाएगा।

(6) इस आदेश के कारण बाद में दिए जाएंगे।

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

महाराष्ट्र एग्रीकलचरल लैण्ड्स (सीलिंग ऑन होल्डिंग्ज़) ऐक्ट, 1961 (1961 का 27) द्वारा, जो 26 फरवरी, 1962 को प्रवृत्त किया गया था, महाराष्ट्र राज्य में कृषि जोतों पर अधिकतम सीमा अधिरोपित की गई थी। उस अधिनियम (मूल अधिनियम) द्वारा नियत अधिकतम सीमा कम कर दी गई थी और 1975 के अधिनियम सं० 21 और 47 तथा 1976 के अधिनियम सं० 2 द्वारा उस अधिनियम में कतिपय अन्य संशोधन किए गए थे। इन अधिनियमों की विधिमान्यता को 2660 से भी अधिक के बड़े समूह के पिटीशनों में मुम्बई उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी। नागपुर स्थित उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने **विट्ठलराव उधवराव उत्तरवाड़** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] के मामले में तारीख 13 अगस्त, 1976 के निर्णय द्वारा उस चुनौती को नामंजूर कर दिया था। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उपर्युक्त अधिनियमों के उपबन्धों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वे संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार से असंगत हैं अथवा उन्हें छीनते हैं या न्यून करते हैं चूंकि उन अधिनियमों को संविधान (सत्तरहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 द्वारा और संविधान (चालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में रख दिया गया था और आपात स्थिति प्रख्यापित कर दिए जाने के परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 के अधीन अधिकारों को प्रवृत्त नहीं किया जा सकता था। उच्च न्यायालय ने स्वयं अनुच्छेद 31-ख की विधिमान्यता की चुनौती को भी नामंजूर कर दिया था

---

[1] ए० आई आर० 1977 मुम्बई 99.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

और यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 (जिसके द्वारा संविधान के अनुच्छेर 31-ख जोड़ा गया था) संविधान के मूल ढांचे को नुकसान पहुंचाना तो दूर उसके मूल सांविधानिक प्रयोजन की पूर्ति करके उसके मूल ढांचे की पुष्टि करता है । मूल अधिनियम और संशोधन अधिनियमों के कतिपय उपबंधों को, विशेषतया "कुटुम्ब यूनिट" की धारणा को उच्च न्यायालय के समक्ष अन्य बातों के साथ इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वे अनुच्छेद 31-क की परिधि से बाहर थे । कृषि सुधार के अंदोलन पर, विशेषतया महाराष्ट्र के संबंध में असंगत आंकड़ों के प्रति निर्देश से पूर्ण रूप से विचार करने पर, उच्च न्यायालय ने उस चुनौती को भी इस आधार पर नामंजूर कर दिया था कि वे उपबंध उस कृषि सुधार की एकीकृत स्कीम के भाग हैं जिसके अधीन बड़े कृषि जोतों में कमी करना पड़ी थी और फालतू भूमि भूमिहीन लोगों और अन्य लोगों के बीच वितरित की गई थी ।

2. मुम्बई उच्च न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध फाइल की गई अपीलें **दत्तात्रेय गोविन्द महाजन बनाम महाराष्ट्र राज्य**[1] के मामले में इस न्यायालय के तारीख 27 जनवरी, 1977 के निर्णय द्वारा खारिज कर दी गई थी । उन अपीलों में एकमात्र मुद्दा, जिस पर बहस की गई थी, यह था कि यथा संशोधित मूल अधिनियम अनुच्छेद 31-क(1) के द्वितीय परन्तुक का अतिक्रमणकारी होने से शून्य था, जहां तक उसके द्वारा एक कृत्रिम "कुटुम्ब यूनिट" सृजित किया गया था और ऐसे कुटुम्ब यूनिटों की कृषि जोतों की अधिकतम सीमा नियत की गई थी । यह तर्क दिया गया था कि किसी विशेष परन्तुक का उल्लंघन आक्षेपित विधियों को अनुच्छेद 31-क द्वारा प्रदत्त संरक्षण से वंचित कर देता है । इस तर्क को न्यायालय द्वारा इस दृष्टि से नामंजूर कर दिया गया था कि भले ही आक्षेपित उपबंध द्वितीय परन्तुक के अतिक्रमणकारी थे तो भी उन्हें संविधान की नवम् अनुसूची में मूल अधिनियम और संशोधन अधिनियमों के सम्मिलित किए जाने के कारण अनुच्छेद 31-ख का संरक्षण प्राप्त होगा । न्यायालय ने इस बात पर भी विचार किया था कि क्या वास्तव में आक्षेपित अधिनियमों के उपबंध द्वितीय परन्तुक के अतिक्रमणकारी थे तथा यह अभिनिर्धारित किया था कि इस बात का विनिश्चय करना पूर्णतया विधानमंडल पर था कि कृषि पद्धति के पुनर्गठन के प्रयोजन के लिए कौन सी नीति अपनाई जाए तथा न्यायालय ऐसी नीति की औचित्यता का विनिश्चय करने के लिए आर्थिक सलाहकार की भूमिका अदा

[1] [1978] 1 उम० नि० प० 1102=(1977) 2 एस० सी० आर० 790.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

नहीं कर सकता। इसलिए अनुच्छेद 31-क(1) के द्वितीय परन्तुक को अतिक्रमणकारी रूप में अभिनिर्धारित नहीं किया गया था।

3. उपर्युक्त अपीलों में इस न्यायालय का निर्णय तारीख 27 जनवरी, 1977 को दिया गया था जब की आपात् की उद्घोषणा प्रवृत्त थी। उस उद्घोषणा के प्रतिसंहरण पर अपीलार्थियों द्वारा इस न्यायालय में पिटीशन फाइल किए गए थे और **दत्तात्रेय गोविन्द महाजन के मामले**[1] के निर्णय का पुनर्विलोकन करने के लिए इस आधार पर प्रार्थना की गई थी कि कई दलीलें, जो आक्षेपित अधिनियमों की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए उनके द्वारा दी जा सकती थी, आपात् स्थिति के कारण नहीं दी जा सकीं और उन्हें वे दलीलें देने के लिए अनुज्ञात किया जाए चूंकि आपात् स्थिति उठा ली गई थी। इस न्यायालय में नवीन रिट पिटीशन भी फाइल किए गए थे जिनमें वे ही दलीलें दी गई थीं। न्यायालय द्वारा **दत्तात्रेय गोविन्द के मामले**[1] के निर्णय का पुनर्विलोकन करने की प्रार्थना स्वीकार कर लिए जाने से ये मामले अपीलों में अन्तर्वलित अन्य मुद्दों पर विचार के लिए हमारे समक्ष पेश किए गए हैं।

4. इन कार्यवाहियों में मुख्य चुनौती अनुच्छेद 31-क, 31-ख और असंशोधित अनुच्छेद 31-ग की संवैधानिकता को दी गई है। मूल अधिनियम और संशोधन अधिनियमों की चुनौती के विभिन्न आधारों का इन अनुच्छेदों के उपबन्धों का अवलम्ब लेकर प्रत्यर्थियों की ओर से उत्तर दिया गया था। ये अनुच्छेद कतिपय वर्णन और प्रकार की विधियों को संरक्षण प्रदान करते हैं और उनकी चुनौती को इस आधार पर अपवर्जित करते हैं कि वे संविधान के कतिपय अनुच्छेदों के अतिक्रमणकारी है। प्रत्यर्थियों की प्रतिरक्षा के बारे में अपीलार्थियों और पिटीशनरों का उत्तर, जो केवल हो सकता है, यह है कि संविधान के वे ही उपबन्ध, जिन का प्रत्यर्थियों ने आक्षेपित विधियों को बचाने के लिए अवलम्ब लिया है, अविधिमान्य हैं, चूंकि संविधान के ये विशेष उपबन्ध, जो पश्चात्‌वर्ती संशोधनों द्वारा पुरःस्थापित किए गए थे, **केशवानन्द भारती के मामले**[2] में बहुमत के निर्णय के विनिश्चयाधार के अर्थ में संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करते हैं।

5. अनुच्छेद 14, 19, 31-क, 31-ख और 31-ग (असंशोधित) और अनुच्छेद 368 से, जो हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत हैं, वकील और

---

[1] [1978] 1 उम० नि० प० 1102=(1977) 2 एस० सी० आर० 790.

[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

उनके समान साधारण आदमी अच्छी तरह से परिचित हैं और इन अनुच्छेदों का विधि और सामान्य जन जीवन पर बहुत ही प्रभाव है। अनुच्छेद 14, जो विधि के नियम का उद्धारक है, यह निदेश देता है कि भारत राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 19 सब नागरिकों को वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का, शान्तिपूर्वक और निरायुद्ध सम्मेलन का, संस्था या संघ बनाने का, भारत राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का या भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने का और बस जाने का, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का तथा कोई वृत्ति उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार प्रदत्त करता है। ये अधिकार जीवन को अर्थपूर्ण बनाते हैं तथा अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताओं के बिना संविधान की प्रस्तावना केवल एक अपूर्ण स्वप्न रह जाएगी। अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति के अधिकार को तारीख 20 जून, 1979 से संविधान के 44वें संशोधन द्वारा लुप्त कर दिया गया था।

6. अनुच्छेद 31-क(1)(क) में यह उपबन्ध हैं कि—

"अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—(क) किसी सम्पदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं अथवा उसे छीनती या न्यून करती है।"

7. अनुच्छेद 31-ख में यह उपबन्ध है कि—

"अनुच्छेद 31-क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम् अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों में से और उनके उपबन्धों में से कोई इस आधार पर शून्य या कभी शून्य नहीं समझा जाएगा कि वह अधिनियम, विनियम या उपबन्ध इस भाग में किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनता या न्यून करता है, और किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश के होते हुए भी, उक्त अधिनियमों और विनियमों में से प्रत्येक उसे निरसित या संशोधित करने की किसी सक्षम विधान-मण्डल की शक्ति के अधीन रहते हुए निरन्तर प्रवृत्त बना रहेगा।"

1980(11) eILR(PAT) SC 1

8. अनुच्छेद 31-ग में, जैसा कि वह संविधान 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित किए जाने से पूर्व विद्यमान था, और जो तारीख 3 जनवरी, 1977 से प्रवृत्त हुआ था, यह उपबन्ध है कि—

"अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाला हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती है या न्यून करती हैं, और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती।"

9. अनुच्छेद 31-क और 31-ख संविधान में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा जोड़े गए थे। अनुच्छेद 31-क संविधान के अधिनियमित किए जाने की तारीख से भूतलक्षी रूप से प्रभावी किया गया था। अनुच्छेद 31-ग (असंशोधित) तारीख 20 अप्रैल 1972 से संविधान (पचीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा जोड़ा गया था। उस अनुच्छेद के अन्तिम खण्ड को, जो किसी विशेष अधिनियम की नीति के सम्बन्ध में घोषणा को अन्तिम रूप देता है, केशवानन्द भारती के मामले[1] में अविधिमान्य होने से अभिखण्डित कर दिया गया था। अब वह भाग भारतीय संविधान के शासकीय प्रकाशनों में केवल तिरछे अक्षरों में छपा हुआ है। 'अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्त" शब्द तारीख 20 जून, 1979 से 44वें संशोधन द्वारा "भाग 4 में अधिकथित सब या किन्हीं सिद्धांतों" शब्दों द्वारा प्रतिस्थापित किए गए थे। हमारा अनुच्छेद 31-ग से सम्बन्ध है जैसा कि वह मूल रूप में और केशवानन्द भारती के मामले[1] में अन्तिम भाग के अभिखंडित हुए बिना विद्यमान था।

10. संविधान का अनुच्छेद 368 इस प्रकार है—

"368(1) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(1) eILR(PAT) SC 1

संशोधन, इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(2) ....

(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।

(4) इस संशोधन के किसी संशोधन पर (जिसके अन्तर्गत भाग में के उपबन्ध भी हैं) जो इस अनुच्छेद के अधीन किया गया है अथवा जिसके इस प्रकार किए जाने का तात्पर्य है [चाहे संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 55 के प्रारम्भ के पहले हो या पश्चात्] किसी न्यायालय में किसी आधार पर आक्षेप नहीं किया जाएगा।

(5) शंकाओं को दूर करने के लिए इसके द्वारा यह घोषित किया गया है कि इस अनुच्छेद के अधीन इस संविधान के उपबन्धों में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने के लिए संसद् की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा नहीं होगी।"

उपर्युक्त खंड (4) और (5), संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 55 द्वारा तारीख 3 जनवरी, 1977 से अन्तःस्थापित किए गए थे। इन खंडों को **मिनर्वा मिल्स के मामले**[1] में इस न्यायालय के हाल ही के विनिश्चय में, जो 31 जुलाई, 1980 को दिया गया था, संसद् की संशोधन शक्ति से बाहर होने से असांविधानिक घोषित किया गया था। खंड (4) और (5) की अविधिमान्यता के बारे में इस न्यायालय का निर्णय सर्वसम्मत था। इस प्रश्न का कि क्या अनुच्छेद 31-क(1)(क), 31-ख और असंशोधित अनुच्छेद 31-ग विधिमान्य हैं, इस आधार पर विनिश्चय करना होगा कि अनुच्छेद 368 का खंड (5) संसद् की संशोधन शक्ति का विस्तार करने के लिए अप्रभावी है ताकि उसे ऐसे संशोधन करने के लिए सशक्त किया जा सके जो संविधान के मूल लक्षणों में से किसी को भी हानि या नुकसान पहुंचाते हों तथा खंड (4) किसी सांविधानिक संशोधन को अविधिमान्य घोषित करने के लिए न्यायालयों की शक्ति छीनने के लिए अप्रभावी है यदि वह संविधान के मूल लक्षणों में से किसी को भी नुकसान पहुचाता है या उसे नष्ट करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उद्भूत होने वाले मुख्य प्रश्न का विनिश्चय

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 146=(1980) 3 एस० सी० सी० 625.

1980(11) eILR(PA

केशवानन्द भारती के मामले[1] के विनिश्चयाधार को उसके मूल रूप में लागू करके करना होगा।"'यह बिल्कुल ही अलग बात है कि विद्वान काउन्सेल श्री एम० एन० फड़के ने यह प्रश्न किया है कि क्या केशवानन्द भारती के मामले[1] में बहुमत के निर्णय का कोई विनिश्चयाधार बिल्कुल ही विचारणीय है।

11. प्रथम प्रश्न, जो हमें स्वयं को सम्बोधित करना चाहिए, यह है कि क्या संविधान के संशोधन के रूप में अनुच्छेद 31-क (1)(क) अधिनियमित करते समय संसद् ने संविधान का संशोधन करने की अपनी शक्ति का अतिक्रमण किया है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, संविधान में अनुच्छेद 31-क संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 4 द्वारा संविधान के प्रारम्भ होने से भूतलक्षी रूप से अन्तःस्थापित किया गया था। तारीख 18 जून, 1951 को प्रथम संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित अनुच्छेद 31-क(1) इस प्रकार है—

> "31-क (1) इस भाग के पूर्वगामी उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी, किसी सम्पदा या उस में किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह इस भाग के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है।"

अनुच्छेद 31-क संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा पुनः उसी मात्रा में भूतलक्षी प्रभाव से संशोधित किया गया था। चतुर्थ संशोधन द्वारा दो परिवर्तन किए गए थे जो सारतः तात्विक नहीं थे। प्रारम्भिक अध्यारोही खण्ड, जो मूल रूप से "इस भाग के अर्थात् भाग 3 के पूर्वगामी उपबन्धों में किसी बात" तक विस्तारित किया गया था, एक खण्ड द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था जो "अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात" तक निर्बन्धित था द्वितीयतः, चूंकि इस अनुच्छेद के अधीन, जैसा कि मूल रूप में अभिव्यक्त किया गया है, भूमि सुधार की विधियों की चुनौती को भाग 3 के "किन्हीं उपबन्धों" द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार से उनके असंगतता, निराकरण या न्यूनन के आधार पर अपवर्जित कर दिया

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

गया था । संशोधित अनुच्छेद के अधीन चुनौती को तीन विनिर्दिष्ट अनुच्छेदों अर्थात् अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अतिक्रमण के सम्बन्ध में अपवर्जित कर दिया गया है । चतुर्थ संशोधन अनुच्छेद 31-क में खण्ड (क) से (ङ) तक प्रतिस्थापित करता है । खण्ड (क) की अन्तर्वस्तु पुराने खण्ड (1) के समान है । चतुर्थ संशोधन द्वारा खंड (ख) से (ङ) तक नवीन रूप से जोड़े गए थे और उनमें चार अन्य प्रवर्गों की विधियां सम्मिलित हैं जैसे किसी सीमित कालावधि के लिए राज्य द्वारा किसी सम्पत्ति का प्रबन्ध ग्रहण करने के लिए उपबन्ध करने वाली विधि, दो या उससे अधिक निगमों के समामेलन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि, निगमों में हितबद्ध व्यक्तियों के अधिकारों का निर्वापन या उपान्तरण करने वाली विधियां और खनिजों से सम्बन्धित किसी करार, पट्टे या अनुज्ञप्ति के अधीन प्रोद्भूत होने वाले अधिकारों के निर्वापन या उपान्तरण करने के लिए उपबन्ध करने वाली विधियां । इन मामलों में हमारा सम्बन्ध खण्ड (ख) से (ङ) तक के उपबन्धों से नहीं है । यद्यपि हम अभिव्यक्त रूप से और विनिर्दिष्ट रूप से यह बात कहना चाहेंगे कि खण्ड (क) की विधिमान्यता के प्रश्न से जो कुछ बात सुसंगत है वह खंड (ख) से (ङ) तक की विधिमान्यता को या अविधिमान्यता को उसी बल से लागू होगी ।

12. चवालीसवें संशोधन धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 19 (1) के खंड (च) के, जो नागरिकों को संपत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार देता है, लोप के परिणामस्वरूप, तारीख 20 जून, 1979 से अनुच्छेद 31क (1) के अन्तिम भाग से अनुच्छेद 31 के प्रति निर्देश संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 की धारा 7 द्वारा लुप्त कर दिया गया था । मूल अधिकारों की परिधि से संपत्ति के अधिकार का लोप पिटीशनरों को उन तर्कों से वंचित नहीं करेगा जो उन्हें चवालीसवें संशोधन के प्रवृत्त होने से पूर्व उपलब्ध थे चूंकि आक्षेपित अधिनियम तारीख 20 जून, 1979 से, जिस पर अनुच्छेद 19(1) (च) लुप्त किया गया था, पूर्व पारित किए गए थे ।

13. वास्तव में इस बात में कोई संदेह नहीं है और न ही इस बात पर कोई विवाद है कि एग्रीकलचरल लैण्ड्स सीलिंग ऐक्ट्स, जिन पर इन कार्यवाहियों में आक्षेप किया गया है, स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 31-क(1) के खंड (क) के शब्दों की परिधि के अन्तर्गत आते हैं । ये अधिनियम "सम्पदा" में अधिकारों के निर्वापन और उपान्तरण के लिए उपबंध करते हैं । "सम्पदा" शब्द खंड (2)(क)(iii) में परिभाषित किया गया है और उससे

"कृषि के प्रायोजनों के लिए या उसके आनुषंगिक प्रायोजनों के लिए धृत या पट्टे पर दी गई कोई भूमि"...अभिप्रेत है। इसके अनिवार्य परिणाम के रूप में यह निष्कर्ष निकाला ही जाना चाहिए। कि आक्षेपित अधिनियम अनुच्छेद 31क(1)(क) का संरक्षण प्राप्त करने के लिए हकदार है जिसका परिणाम यह है कि उनके उपबंधों को माना नहीं जा सकता और इसलिए उन्हें इस आधार पर शून्य घोषित नहीं किया जा सकता कि वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार से असंगत हैं या उन्हें छीनते हैं या न्यून करते हैं।

14. यही कारण है जिससे और संदर्भ जिस में पिटीशनरों द्वारा स्वयं अनुच्छेद 31क(1)(क) की विधिमान्यता को चुनौती दी गई है। यदि कोई सांविधानिक उपबंध, जो पिटीशनरों को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के फायदे और संरक्षण से वंचित करता है, अविधिमान्य है तो पिटीशनर आक्षेपित विधियों को चुनौती देने के लिए इस आधार पर हकदार होंगे कि वे संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों से असंगत हैं या वे उन अधिकारों को छीनती या न्यून करती हैं। अनुच्छेद 13(2) एक संवेदनशील कसौटी है। वह न केवल यह आज्ञा देता है कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो भाग 3 द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो किन्तु उस में यह उपबन्ध है कि इस खंड के उल्लंघन में बनी कोई भी विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। केवल न्यूनीकरण अर्थात् कटौती न कि अनिवार्य रूप से निराकरण अर्थात् पूर्णरूप से वंचित किया जाना अनुच्छेद 13(2) द्वारा उपबन्धित परिणाम प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है।

15. संविधान संशोधन की, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31-क(1)(क) जोड़ा गया था, विधिमान्यता को पिटीशनरों द्वारा इस आधार पर चुनौती दी गई है कि वह संविधान के मूल लक्षणों में से एक लक्षण को अर्थात् विधानमंडल द्वारा ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाएगी जो अनुच्छेद 14,19 और 31 द्वारा प्रदत्त प्रत्याभूतियों को निराकृत करती हो, नष्ट करके संविधान के मूल ढांचे को नुकसान पहुंचाती है। इसे यदि हम उसे उसी प्रकार कहें तो उसे समानार्थक कह सकते हैं किन्तु इन अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उन्मूलन, जो अनुच्छेद 31-क(1)(क) करता है, समग्र और पूर्ण रूपेण है क्योंकि उस अनुच्छेद की स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा यह दर्शाती है कि इन तीन अनुच्छेदों का लागू किया जाना पूर्ण रूप से प्रत्याहृत कर लिया गया है जहां तक खंड (क) की परिधि के भीतर आने वाली विधियों का

1980(11) eILR(PAT) SC 1

संबंध है। यह कहना कोई तर्क नहीं है कि किसी परिभाषित प्रवर्ग की विधियों के संबंध में भाग 3 के कतिपय अनुच्छेदों के लागू किए जाने का प्रत्याहरण अनुच्छेदों का पूर्ण रूप से निराकरण नहीं है क्योंकि वे अन्य स्थितियों और अन्य विधियों को लागू होते रहेंगे। किसी दिए मामले में जो बात विनिश्चायक है वह यह है कि क्या, जहां तक की आक्षेपित विधि का सम्बन्ध है, भाग 3 के अनुच्छेदों में से किसी के भी अधीन उस विधि द्वारा प्रभावित व्यक्तियों को उपलभ्य अधिकार पूर्ण रूप से या सारतः प्रत्याहृत कर लिए गए हैं और न कि क्या अनुच्छेद, जिनका लागू किया जाना विधियों के किसी परिभाषित प्रवर्ग के संबंध में प्रत्याहृत है, कानून के रूप में बना रहेगा जिससे कि वह अन्य प्रवर्गों की विधियों के संबंध में लागू हो सके। इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि उन विधियों के संबंध में, जो खण्ड (क) के अधीन आती हैं, अनुच्छेद 14,19 और 31 के लागू किए जाने का प्रत्याहरण पूर्णरूपेण है अर्थात् उन अनुच्छेदों का आक्षेपित अधिनियमितियों के संबंध में, जो असंदिग्ध रूप से खण्ड (क) की परिधि के अन्तर्गत आती हैं, लागू किया जाना न केवल न्यून कर दिया गया है बल्कि निराकृत हो गया है। हम यह कहना चाहेंगे कि प्रत्येक मामले का, जिसमें मूल अधिकार का संरक्षण वापस ले लिया गया है, अनिवार्य रूप से परिणाम संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करने का नहीं होगा। यह प्रश्न कि क्या किसी दिए गए मामले में मूल ढांचा क्षतिग्रस्त या नष्ट हुआ है, इस बात पर निर्भर करेगा कि भाग 3 का कौन-सा विशेष अनुच्छेद विवादास्पद है और जिसे वापस लिया गया है वह संविधान के मूल ढांचे के लिए बिल्कुल आवश्यक है।

16. **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में इस न्यायालय के निर्णय द्वारा बहुत से संविवाद उत्पन्न हुए हैं जो बिल्कुल ही समझे जा सकते हैं। तेरह न्यायाधिपतियों में से सात न्यायाधिपतियों के बहुमत के निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित करके मध्यम मार्ग अपनाया गया कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद् संविधान का संशोधन नहीं कर सकती जिससे कि संविधान का मूल ढांचा क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाए। सात विद्वान् न्यायाधिपतियों ने अपने-अपने निष्कर्ष अभिव्यक्त करने के लिए बहुत ही अच्छे ऐसे शब्दों और वाक्याशों का प्रयोग किया है जिनका प्रभावी रूप से और वाकपटुता से भाषा में प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इतने लम्बे

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PA

समय बाद उन्होंने जो कुछ कहा है उसके आशय के बारे में संविवाद स्पष्ट रूप से निरर्थक है। **केशवानन्द भारती के मामले**[1] के विनिश्चय के बाद से कम से कम इन आठ वर्षों में बहुत ही महत्व की सांविधानिक घटनाएं घटी हैं। उस युगप्रवर्ती विनिश्चय में बहुमत के निर्णय के विनिश्चयाधार को लागू करते हुए इस न्यायालय ने उन संविधान संशोधनों को अभिखंडित कर दिया है जो अन्यथा पर्याप्त माने जाते। उदाहरण के लिए **श्रीमती इन्दिरा गांधी बनाम राजनारायण**[2] के मामले में न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 329 (क) (4) को संसद् की संशोधन क्षमता के बाहर अभिनिर्धारित किया गया था चूंकि संसद् ने प्रधानमंत्री और अध्यक्ष के संसदीय निर्वाचनों के बारे में पृथक् और विशेष उपबंध बना करके संविधान के मूल ढांचे को नष्ट किया था। मुख्य न्यायाधिपति रे ने अपना विनिश्चय इस आधार पर दिया था कि 39वां संशोधन, जिसके द्वारा अनुच्छेद 329-क अन्तःस्थापित किया गया था, विधि का अतिक्रमणकारी था (पृष्ठ 418)। न्यायाधिपति खन्ना ने अपना विनिश्चय इस आधार पर आधारित किया था कि लोकतंत्र संविधान का मूल ढांचा है और उस लोकतंत्र में यह अनुध्यात है कि निर्वाचन स्वतंत्र और निष्पक्ष हों तथा प्रश्नगत खंड स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन के आधार पर ही आघात करता है (पृष्ठ 467 और 471), न्यायाधिपति मैथ्यू ने खंड इस आधार पर अभिखंडित कर दिया था कि वह वैयक्तिक विधान की प्रकृति का था (पृष्ठ 513) और वह संविधान के लोकतंत्रात्मक ढांचे को क्षतिग्रस्त करता है (पृष्ठ 515) जब कि हमारे में से एक न्यायाधिपति चन्द्रचूड़ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि खंड अविधिमान्य था क्योंकि उससे विधि के नियम का उल्लंघन होता था और साम्या के सिद्धांत का, जो संविधान का मूल लक्षण है, स्पष्ट रूप से इनकार था (पृष्ठ 663-665)। हाल ही के **मिनर्वा मिल्स के मामले**[3] में न्यायालय ने एक मत से अनुच्छेद 368 के खंड (4) और (5) को असंवैधानिक इस आधार पर अभिनिर्धारित किया था कि वे न्यायिक पुनर्विलोकन और सीमित संशोधन शक्ति जैसे संविधान के कतिपय मूल लक्षणों को नष्ट करते हैं और तदद्वारा उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करते हैं। बहुमत ने संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 4 द्वारा अनुच्छेद 31-ग में किए गए संशोधन को भी अभिखंडित कर दिया था।

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

[2] [1976] 4 उम० नि० प० 1103=[1976] 2 एस० सी० आर० 347.

[3] [1981] 3 उम० नि० प० 146=(1980) 3 एस० सी० सी० 625.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

17. 24 अप्रैल, 1973, जब कि **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में निर्णय दिया गया था, और अब के बीच की कालावधि यद्यपि हमारे संविधान के इतिहास में एक बहुत ही छोटी अवधि है किन्तु समय-समय पर दी गई चुनौतियों से, जिनकी भी उसी प्रकार प्रतिक्रिया हुई, संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति की सीमाओं के बारे में संविवाद को तय करने में सहायता मिली है। न्यायाधिपति खन्ना ने इस बात को गलत समझा कि मूल अधिकार संविधान के मूल ढांचे के भाग नहीं हैं जब उन्होंने **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में यह बात कही है—

> "मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं हैं कि संशोधन की शक्ति स्पष्ट है और उसमें स्वयं ही उन विभिन्न अनुच्छेदों को, जिनमें मूल अधिकारों से सबंधित अनुच्छेद भी हैं, जोड़ने, परिवर्तित करने या निरसित करने की शक्ति है (पृष्ठ 688)।"

किन्तु उन्होंने **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में अपने निर्णय के पृष्ठ 686 और 758 पर उस महत्वपूर्ण विशेषता की ओर, जो उन्होंने उपर्युक्त कथन में बतलाई थी, शंकाकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट करके निर्वाचन के मामले (**श्रीमती इन्दिरा गांधी बनाम राजनारायण**[2]) (पृष्ठ 497-499) में अपने निर्णय में वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। विशेषता यह थी कि संविधान के मूल ढांचे या प्रारूप को बनाए रखने के लिए संशोधन की शक्ति स्पष्ट थी। सविधान का सशोधन करने की संसद् की शक्ति के विषय से संबंधित विधि अब अच्छी तरह से सुस्थिर मानी जानी चाहिए। वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि संसद् को संविधान के भाग 3 के उपबंधों सहित प्रत्येक अनुच्छेद का संशोधन करने की शक्ति है किन्तु संशोधन शक्ति का इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता जिससे संविधान का मूल ढांचा क्षतिग्रस्त या नष्ट हो। इस सिद्धान्त को लागू करके ही हमें उस संशोधन की विधि-मान्यता का विनिश्चय करना होगा जिसमें द्वारा अनुच्छेद 31-क अन्त:स्थापित किया गया था। इसके पश्चात् विचारार्थ संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 4, जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-क जोड़ा गया था, संविधान के मूल ढांचे को क्षति-ग्रस्त या नष्ट करती है।

18. दैनिक सिविल विधि में यह कहा गया है कि किसी अभिवचन के संशोधन की अनुज्ञेयता का माप यह है कि वह मूल से कितना संगत है।

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

[2] [1976] 4 उम० नि० प० 1103=[1976] 2 एस० सी० आर० 347.

आप संशोधन द्वारा मूल को उसके प्रतिकूल परिवर्तित नहीं कर सकते। उस प्रयोजन के लिए संशोधन से मूल का मेल मिलाने के लिए तुलना की गई है। ऐसी तुलना से सांविधानिक विधि के दुर्लभ क्षेत्र में भी लाभकारी परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। भारतीय संविधान के मूलभूत तत्व क्या थे जब वह अधिनियमित किया गया था? और क्या प्रथम संशोधन उन मूलभूत तत्वों का उल्लंघन करता है? क्या मूलरूप से बनाया गया संविधान और प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया संशोधन सामंजस्यपूर्ण नहीं हैं या क्या वे इतने असंगत हैं कि उनमें सामंजस्यता स्थापित करना किसी गोलाकार छेद में चौकोर कील स्थापित करने का प्रयत्न करने के समान होगा? क्या प्रथम संशोधन की धारा 4 में अन्तर्निहित धारणा गणतंत्र वाले देश में विदशी है। क्या वह अतिक्रमणकारी और नष्ट करने वाली है? क्या वह मूल रूप से बनाए गए और परिकल्पित संविधान के गणतन्त्री ढांच को क्षतिग्रस्त या नष्ट करती है?

19. इन प्रश्नों का ऐतिहासिक आधार और पृष्ठभूमि है और इतिहास ही इन प्रश्नों के बारे में सुरक्षित और कुछ आधार दे सकता है। प्रथम संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथन का सुसंगत भाग इस प्रकार है—

> "संविधान के प्रभावी होने से पिछले 15 महीनों के दौरान न्यायिक विनिश्चयों और निर्णयों द्वारा, विशेषतया मूल अधिकारों के अध्याय के संबंध में, कतिपय कठिनाइयां सामने आई हैं। अनुच्छेद 19 (1) (क) द्वारा प्रत्याभूत वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के नागरिक अधिकार को कुछ न्यायालयों द्वारा इतना व्यापक माना गया है कि यदि कोई व्यक्ति हत्या और हिंसा के अन्य अपराधों की वकालत करता है तो भी उसे अपराधी नहीं माना जाएगा। अन्य देशों में, जिनके लिखित संविधान हैं, वाक् स्वातंत्र्य और प्रेस की स्वतंत्रता को, इस स्वतंत्रता के दुरुपयोग को दंडित करने या निवारित करने से राज्य को विवर्जित करने वाले रूप में नहीं माना जाता है। नागरिकों का अनुच्छेद 19 (1) (छ) द्वारा प्रदत्त कोई वृत्ति, उपजीविका व्यापार या कारबार करने का अधिकार उन युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अध्यधीन है जो राज्य की विधियां "जनता के हित में" अधिरोपित करे। यद्यपि ऊपर उद्धृत शब्द, राष्ट्रीयकरण की स्कीम को, जो राज्य द्वारा शुरू की जा सकती है, सम्मिलित करने के लिए व्यापक है फिर भी अनुच्छेद 19 (6) में स्पष्टीकरण जोड़ करके

इस बात को संदेह से परे रखना आवश्यक समझा गया है। अन्य अनुच्छेद, जिसके संबंध में अप्रत्याशित कठिनाइयां उद्भूत हुई हैं, अनुच्छेद 31 है। पिछले तीन वर्षों में राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित कृषि सुधार के उपायों की विधिमान्यता को अनुच्छेद 31 के खंड (4) और (6) के उपबंधों के बावजूद भी विलम्बकारी मुकदमों की विषयवस्तु बनाया गया है जिसके परिणामस्वरूप कई व्यक्तियों को प्रभावित करने वाले इन महत्वपूर्ण उपायों का कार्यान्वयन रुक गया है।

तदनुसार इस विधेयक के मुख्य उद्देश्य ऊपर उपदर्शित प्रयोजनों के लिए अनुच्छेद 19 का संशोधन करना और साधारणतः जमींदारी उन्मूलन विधियों और विशेषतया कुछ विनिर्दिष्ट राज्य अधिनियमों की सांविधानिक विधिमान्यता को पूर्ण रूप से सुनिश्चित करने के लिए उपबन्ध अन्तःस्थापित करना है। अन्य अनुच्छेदों में भी कुछ छोटे संशोधन करने का प्रस्ताव करने के अवसर का लाभ उठाया गया है जिससे उन कठिनाइयों को दूर किया जा सके जो उद्भूत हो सकती हैं।"

शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ[1] के मामले में मुख्य न्यायाधिपति पातंजली शास्त्री ने उन कारणों को, जिनके कारण प्रथम संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31-क और 31-ख जोड़ना पड़ा था, इस प्रकार समझाया है—

"उस अधिनियमिति को क्यों बनाना पड़ा यह एक सामान्य ज्ञान की बात है। अभी सत्तारूढ़ राजनैतिक दल ने जिसका कई राज्य विधानमण्डलों तथा संसद् में बहुमत है, ऐसा विधान अधिनियमित करके, जिसे संक्षेपतः जमींदारी उन्मूलन अधिनियम के रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में कृषि सुधार के कतिपय उपाय कार्यान्वित किए हैं। कतिपय जमींदारों ने व्यथित अनुभव करते हुए न्यायालयों में उन अधिनियमों की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी है कि उन्होंने संविधान के भाग 3 द्वारा उन्हें प्रदत्त मूल अधिकारों का उल्लंघन किया है। पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि बिहार में पारित अधिनियम असांविधानिक था जब कि इलाहाबाद और नागपुर उच्च न्यायालयों ने क्रमशः उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के तत्सम

[1] [1952] एस० सी० आर० 89.

विधानों की विधिमान्यता को कायम रखा था। उन विनिश्चयों के विरुद्ध अपीलें इस न्यायालय में लम्बित हैं। इसी प्रश्न का अवधारण करवाने के लिए कुछ अन्य जमींदारों द्वारा इस न्यायालय में फाइल किए गए पिटीशन भी लम्बित हैं। इस प्रक्रम पर केन्द्रीय सरकार ने इस मुकदमेबाजी को समाप्त करने और संविधान को कार्यान्वित करने में ध्यान में आई कतिपय त्रुटियों को दूर करने की दृष्टि से संविधान में कुछ संशोधन पेश किए जो विभिन्न बातों में संशोधन करने के पश्चात् अपेक्षित बहुमत द्वारा पारित किए गए थे। जिसे संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 कहा गया है।"

20. अनुच्छेद 31-क, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा भूतलक्षी रूप से और संशोधित किया गया था जिसका उद्देश्य उस संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथनों में बताया गया था जो इस प्रकार है—

"इस बात का स्मरण करना उचित होगा कि जमींदारी उन्मूलन विधियों को, जो प्रथमतः हमारे सामाजिक कल्याण के विधान के कार्यक्रम में आई थीं, प्रभावित हितबद्ध व्यक्तियों द्वारा मुख्यतः अनुच्छेद 14, 19 और 31 के प्रति निर्देश से चुनौती दी गई थी तथा विलम्बकारी और बेकार की मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए और इन विधियों को न्यायालयों में चुनौती की परिधि से बाहर रखने के लिए संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31-क और 31-ख तथा नवम् अनुसूची अधिनियमित की गई थी। अनुच्छेद 14,19 और 31 का निर्वचन करने वाले पश्चात्वर्ती न्यायिक विनिश्चयों ने वांछनीय विषयों पर अन्य और समान महत्वपूर्ण सामाजिक कल्याण के विधान बनाने में संघ और राज्यों के रास्ते में गंभीर कठिनाइयां उत्पन्न की हैं, अर्थात्—

(i) जमींदारी और राज्य तथा कृषक के बीच कई मध्यस्थों को देश के कई भागों में समाप्त कर दिया गया है। भूमि सुधार के हमारे अगले उद्देश्य कृषि भूमि की सीमा को उस सीमा तक नियत करना है जो किसी व्यक्ति द्वारा स्वामित्व या कब्जे में रखी जा सकती है। अधिकतम विहित सीमा से अधिक धारित किसी भूमि का व्ययन और कृषि जोतों में भूस्वामियों और अभिधारियों का अधिकारों का उपान्तरण करना है।

(ii)	×	×	×
(iii)	×	×	×
(iv)	×	×	×

तदनुसार विधेयक के खंड (3) में अनुच्छेद 31-क की परिधि को विस्तारित करने की प्रस्तावना की जाती है ताकि अनिवार्य समाज कल्याण के विधानों के इन प्रवर्गों को भी सम्मिलित किया जा सके।"

21. संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम तारीख 12 मई, 1951 को अस्थायी संसद् में 1951 के विधेयक सं० 48 के रूप में पेश किया गया था। वह प्रवर समिति को सौंपा गया था तथा उसकी रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात् मई और जून मास में विभिन्न तारीखों पर संसद् में उस पर बहस की गई थी। तारीख 18 जून, 1951 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई थी।

22. जवाहर लाल नेहरू और अन्य राष्ट्रीय नेताओं द्वारा, जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया था, अस्थायी संसद् में किए गए भाषण प्रथम संशोधन की उत्पत्ति और स्पष्ट प्रयोजन को पर्याप्त परिमाण में दर्शाते हैं।

23. इस बात का समावेदन करते समय कि विधेयक प्रवर समिति को निर्दिष्ट किया जाए, जवाहर लाल नेहरू ने यह कहा था—

> "यह विधेयक बहुत ही जटिल और बड़ा नहीं है। इस पर भी मैं यह कहना चाहूंगा कि वह बहुत ही आन्तरिक महत्व का है। संविधान और उसके परिवर्तन से संबंधित कोई भी बात महत्व की है। संविधान में सम्मिलित मूल अधिकारों से सम्बन्धित कोई भी बात उससे भी अधिक महत्व की है। इसलिए इस विधेयक को पेश करते समय मैं और सरकार हल्केपन की भावना से और जल्दबाजी में ऐसा नहीं कर रहे हैं किन्तु इस समस्या पर बहुत ही सावधानी-पूर्वक विचार करने के पश्चात् और उसकी संवीक्षा करने के पश्चात् ऐसा कर रहे हैं। मैं सदन को यह जानकारी देना चाहूंगा कि हम कई महीनों से जनता, राज्य सरकारों, प्रान्तीय सरकारों के त्रियों से परामर्श करके और जब अवसर मिला इस सदन के कई सदस्यों से परामर्श करके इस मामले के बारे में विचार कर रहे हैं और उसे विभिन्न समितियों को निर्दिष्ट कर रहे हैं और सक्षम विधि के क्षेत्रों से ऐसी सलाह ले रहे हैं जो हम प्राप्त कर सकते हैं जिससे हमने उतनी ही सावधानी से उस पर कार्यवाही की है जो संभवतः हम

उसके बारे में बरत सकते हैं। हमने उसे उस सावधानी के पश्चात् ही अब बहुत अच्छे प्ररूप में पेश किया है जिसमें हम उसको पेश कर सकते थे क्योंकि हमने यह सोचा कि इस विधेयक में उल्लिखित संशोधन न केवल आवश्यक ही हैं किन्तु वांछनीय भी हैं और क्योंकि हमने यह सोचा कि यदि ये परिवर्तन नहीं किए जाते हैं तो संभवतः न केवल उससे बहुत अधिक वे कठिनाइयां ही उत्पन्न होंगी जैसी कि पिछले कुछ महीनों में उद्भूत हुई हैं किन्तु उस संविधान के मुख्य प्रयोजन ही विफल या विलंबित हो जाएंगे।"

24. पार्लियामेंटरी डिबेट्स, भाग 2, जिल्द, 12 और 13 (15 मई-9 जून, 1951) में उन भाषणों का अभिलेख अन्तर्विष्ट है जो प्रथम संशोधन के विचाराधीन होने के समय किए गए थे। हम तत्कालीन प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू के भाषणों के सुसंगत उद्धरणों को नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

"वास्तविक कठिनाई जो हमारे समक्ष उद्भूत हुई है यह है। संविधान राज्य की नीति के कतिपय निदेशक तत्वों को अधिकथित करता है और लम्बी चर्चा के पश्चात् हम उनसे सहमत हुए हैं और वे वह मार्ग दिखलाते हैं जिस पर हमें चलना चाहिए। संविधान कतिपय मूल अधिकारों को भी अधिकथित करता है। दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। राज्य की नीति के निदेशक तत्व कतिपय उद्देश्यों के बारे में गतिशील आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मूल अधिकार किसी स्थिर बात का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कतिपय ऐसे अधिकारों को आरक्षित रखते हैं जो विद्यमान हैं। पुनः दोनों अधिकार हैं। किन्तु किसी प्रकार से और कभी-कभी यह हो सकता है कि वह गतिशील आंदोलन और वह स्थिर गतिरोध एक दूसरे से बिल्कुल ही सामंजस्यपूर्ण न हों।

कतिपय उद्देश्यों के बारे में गतिशील आंदोलन से अनिवार्यतः कतिपय होने वाले परिवर्तन अभिप्रेत हैं और यही आंदोलन का सार है। (पृष्ठ 8820)।

अब मैं अन्य महत्वपूर्ण अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 31 पर विचार करूंगा। जब मैं इस अनुच्छेद के बारे में विचार करता हूं तो मेरे मस्तिष्क के समक्ष इस अनुच्छेद का संपूर्ण विस्तार आ जाता है क्योंकि यह अनुच्छेद जमींदारी उन्मूलन पद्धति, भूमि से संबंधित

विधियों और कृषि सुधार से संबंधित है। मैं जमींदार नहीं हूं और न ही मैं अभिधारी हूं। मैं केवल एक बाहरी व्यक्ति हूं। किन्तु मेरे सार्वजनिक जीवन का संपूर्ण समय मेरे प्रान्त के कृषि सुधार आंदोलन से बहुत ही घनिष्ठता से सम्बन्धित रहा है या घनिष्ठता से सम्बन्धित था। इसलिए ये बातें मेरे समक्ष बारम्बार आई हैं और उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा हूं। इसलिए मेरी उनके बारे में कतिपय भावनात्मक प्रतिक्रियाएं हैं और उनके बारे में जागरूकता है जो केवल बौद्धिक गुण-विवेचन से बहुत अधिक है। यदि कोई एक बात है जिसके बारे में हम दल के रूप में पिछली पीढ़ी में वचनबद्ध रहे हैं तो वह कृषि सुधार और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन है। (पृष्ठ 8830)।

अब हमारे वायदे के अतिरिक्त आज के विश्व के सर्वेक्षण या आज के एशिया के सर्वेक्षण से कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति यह बात देख सकता है कि मूल और आरम्भिक समस्या एशिया में आज भूमि समस्या है, जैसी कि भारत में है। तथा प्रत्येक दिन के विलंब से स्वयं में अन्याय होने के अतिरिक्त कठिनाइयां और खतरे स्वयं ही जुड़ जाते हैं। (पृष्ठ 8830-8831)।

......यह बात स्पष्ट है कि जब आप असमानताओं का उपचार करना चाहते हैं तब आप और असमानताओं को जन्म देकर असमानताओं का उपचार नहीं करते हैं। हम किसी व्यक्ति को पीड़ित नहीं करना चाहते। किन्तु अनिवार्यतः इस बड़े सामाजिक परिवर्तन में कुछ व्यक्तियों को नुकसान सहन करना होगा। (पृष्ठ 8831)

हम समय की चुनौती का किस प्रकार से सामना कर सकते हैं? हमें इस प्रश्न का उत्तर किस प्रकार से देना है। पिछले 10 या 20 वर्षों से हमने यह कहा है कि हम इसे करेंगे। आपने इसे क्यों नहीं किया? हमारे लिए यह कहना अच्छी बात नहीं है कि हम भाग्य और उस स्थिति के लिए असहाय हैं जिसका हमें वर्तमान में सामना करना है। इसलिए हमें इन बड़े परिवर्तनों की दृष्टि से विचार करना होगा। इसलिए हमने अनुच्छेद 31 का संशोधन करने की सोची है। अन्ततोगत्ता हमने अतिरिक्त अनुच्छेद 31-क और 31-ख का प्रस्ताव करने का सोचा है और उसके अतिरिक्त राज्य विधान-मंडलों द्वारा पारित बहुत से अधिनियमों की अनुसूची संलग्न है जिनमें

से कुछ को चुनौती दी गई है या जिन्हें चुनौती दी जा सकती है तथा हमने लम्बे विलम्बों और इन कठिनाइयों से उन्हें बचाना चाहा है जिससे कि परिवर्तन की यह प्रक्रिया आगे बढ़ सके जो राज्य द्वारा प्रारम्भ की गई है। (पृष्ठ 8831-32)

अगले दिन मैं एक बहुत ही प्रसिद्ध अमेरिकन द्वारा भारत के बारे में लिखित लेख पढ़ रहा था और उस लेख को, जिसमें बहुत से सही कथन और कुछ असत्य कथन सम्मिलित थे, लेखक ने यह कहते हुए समाप्त किया था कि भारत को बहुत ही कठिन समस्याओं का सामना करना है किन्तु उन्होंने कहा कि उनमें से बहुत ही कठिन समस्या को पांच शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है और ये पांच शब्द हैं—भूमि, जल, बच्चे, गाय और पूंजी। मेरे विचार से भारतीय स्थिति के इस संक्षिप्त विश्लेषण में बहुत ही सच्चाई है। (पृष्ठ 8832-33)

अब मैं अनुच्छेद 31-क और 31-ख पर चर्चा करूंगा। मैं सदन या सदन के उन सदस्यों को, जो संविधान सभा के सदस्य भी थे, उन लम्बी चर्चाओं (डिबेटों) का स्मरण कराऊंगा जो हमने इस विवाद्यक पर की थीं। अब संविधान में, इन अनुच्छेदों का सम्पूर्ण उद्देश्य न्यायालयों की परिधि से जमींदारी और भूमि सुधार के प्रश्नों को बाहर ले जाना था और मैं यह भी कह सकता हूं कि इन प्रश्नों को जानबूझकर न्यायालयों की परिधि से बाहर ले जाना था। संविधान का एकमात्र उद्देश्य यही है और हमने यह बात अनुच्छेद 31 के सम्बन्ध में कुछ परन्तुक आदि में रखी है। (पृष्ठ 9082)

हमें उसके बारे में क्या करना है? सरकार को क्या करना है? यदि सरकार को क्रमशः वह समानता लाने के लिए विधान बनाने की कोई शक्ति नहीं है तो सरकार वह कार्य करने में असफल रहती है जिसको करने के लिए उसने इस संविधान में वचन दिया है। इसलिए मैं यह कहता हूं कि मैंने सदन के समक्ष जो संशोधन रखे हैं वे इस संविधान को प्रभावी बनाने के लिए अभिप्रेत हैं। मैं संविधान में कण मात्र भी परिवर्तन नहीं कर रहा हूं। मैं केवल उसे सुदृढ़ बना रहा हूं। मैं केवल संविधान के विनिर्माताओं के वास्तविक आशयों को और संविधान के शब्दों को ही केवल कार्यान्वित कर रहा हूं, जब तक कि उसका बहुत ही संकीर्ण और कानूनी तरीके से निर्वचन न

1980(11) eILR(PAT) SC 1

किया जाए। यहां, पर संविधान में एक निश्चित आशय है। भूमि सुधार का यह प्रश्न अनुच्छेद 31 (2) में है और यह खण्ड उसे न्यायालयों की परिधि से बाहर ले जाने का प्रयत्न करता है और किसी प्रकार से अनुच्छेद 14 परिवर्तन लाया है। निश्चित रूप से उस प्रकार की बात संविधान के विनिर्माताओं का आशय नहीं है। यहां पर पुनः मै यह कह सकता हूं कि बिहार उच्च न्यायालय ने उस मत को कायम रखा था किन्तु इलाहाबाद और नागपुर उच्च न्यायालयों ने प्रतिकूल मत व्यक्त किया था। यह बात सही है। इस बात में भ्रम और शंका है। क्या हमें इस शंका और भ्रम को क्रमशः स्वयं हल होने देने तक इंतजार करना चाहिए जब कि शक्तिशाली कृषि सुधार आंदोलन बढ़ रहा है? मैं सदन को इस बात का स्मरण कराना चाहूंगा कि भूमि सुधार का यह प्रश्न खाद्य उत्पादन से बहुत ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। हम खाद्य उत्पादन और अधिक अन्न उपजाओं के बारे में बातें करते हैं और यदि कृषि सुधार में बाधाएं हैं और भू-अभिधृतियों को असुरक्षा है तो कोई भी व्यक्ति इस बात को नहीं जानता है कि क्या होने वाला है। न तो जमींदार और न ही अभिधारी खाद्य उत्पादन में अपनी शक्ति को लगाएंगे क्योंकि अस्थायित्व है। इसलिए न्यायालयों में ये जोरदार तर्क और बारम्बार ये अपीलें सुरक्षा की दृष्टि से, खाद्य उत्पादन की दृष्टि से और व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी राज्य के लिए खतरनाक है चाहे ये अपीलें जमींदारों या अभिधारियों या किन्हीं मध्यस्थों की हों। (पृष्ठ 9082-9084)

(उपर्युक्त पैरा में रेखांकन बल देने हेतु किया गया है।)

25. प्रधान मन्त्री द्वारा ये कथन सदन के समक्ष बहुत ही सावधानीपूर्वक सोच-विचार करके और विभिन्न हितों वाले व्यक्तियों से व्यापक रूप से परामर्श करने के पश्चात् किए गए हैं। ये कथन शंकाओं और कठिनाइयों को हल करने के लिए किए गए थे न कि सरकार के किसी अंग या जनता से लड़ाई करने के आशय से किए गए थे। वे एक भिन्न वर्ग के हैं और तर्कपूर्ण तथा सीधी भाषा में यह अभिव्यक्त करने के लिए किए गए हैं कि किस प्रकार से संविधान अपने प्रयोजन में असफल रहा था और किस प्रकार से वह संशोधन आवश्यक था जिससे कि स्पष्ट असमानताओं को दूर किया जा सके और संविधान के ढांचे को सुदृढ़ बनाने के प्रयोजन के लिए उसके

ढांचे में वह अर्थ और अन्तर्वस्तु समाविष्ट किया जा सके। हमारे देश के पिछले 30 साल के सांविधानिक इतिहास को देखने पर हमें वकीलों और न्यायाधीशों के रूप में, उपर्युक्त भाषणों में किए गए इस दावे का अवश्य ही समर्थन करना चाहिए कि यदि अनुच्छेद 31-क अधिनियमित नहीं किया गया होता तो संविधान के कुछ मुख्य प्रयोजनों में विलम्ब हो जाता और परिणामस्वरूप वे विफल हो जाते तथा संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा सांविधानिक ढांचा क्षतिग्रस्त नहीं हुआ, किन्तु सुदृढ़ हुआ है।

26. हमें इस बारे में जागरूक रहना चाहिए, जैसे हम हैं, कि सांविधानिक निर्वचन के बारे में बाहरी सहायता अनुज्ञेय है। विधेयक को पेश करने वाले के विचार उसके उद्देश्यों और प्रयोजनों के प्रश्न पर निश्चायक नहीं हैं। हम स्वयं स्वतन्त्र रूप से इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या संविधान का प्रथम और चतुर्थ संशोधन किसी भी रीति में संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करता है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम केवल यह कहना चाहेंगे कि ये संशोधन, (विशेषतया प्रथम संशोधन) संविधान के लागू होने के तुरन्त पश्चात् ही किए गए थे, अतः उन्हें वस्तुतः स्वयं संविधान का ही एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिए। ये संशोधन पश्चात्वर्ती विचारों से उत्पन्न नहीं हुए और ये संविधान के लिए नए प्रतीत नहीं होते हैं जिससे कि लोगों को संविधान के लाभों से वंचित किया जा सके। वे, सही अर्थ में, संविधान की समकालीन व्यावहारिक व्याख्या हैं।

27. संविधान के अनुच्छेद 39 के खंड (ख) और (ग) यह निदेश देते हैं कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। राज्य की नीति के ये दो सिद्धांत संविधान के इस प्रकार से भाग थे जैसे वे मूल रूप से अधिनियमित किए गए हों तथा इन निदेशक तत्वों के प्रयोजन को प्रभावी करने के लिए ही प्रथम और चतुर्थ संशोधन पारित किए गए थे। डाक्टर डा० आर० गाडगिल ने कृषि—आर्थिक सम्मेलन के इलाहाबाद सत्र में अपने सम्बोधन में सच्चाई को स्पष्ट रूप से निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था—

> "सब स्रोतों में भूमि का प्रदाय बहुत ही सीमित है और उसके कब्जे के दावेदार बहुत अधिक हैं। इसलिए स्पष्ट रूप से किसी एक व्यक्ति को भूमि के बहुत बड़े भाग का शोषण करने देने के लिए

> अनुज्ञात करना तब तक अन्यायोचित होगा जब तक कि अन्य युक्ति-युक्तकारण इसे वांछनीय न बनाते हों। इसके अतिरिक्त भूमि, श्रम और पूंजी के उपलभ्य प्रदाय को देखते हुए उत्पादन की पूंजी-सघन पद्धति को बढ़ावा देना अवांछनीय होगा। तथापि बड़े पैमाने के प्रबन्ध की अर्थ-व्यवस्था चाहे जो भी हों, उक्त साधन हमारे देश की अधिक जनसंख्या को देखते हुए किसी व्यष्टि कुटुम्ब की बजाय कृषकों के समूह या सहकारी निकायों को मिलना चाहिए। अन्त में वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक वातावरण के संदर्भ में भूमि का पुनर्वितरण अनिवार्य प्रतीत होना चाहिए।"

भूमि सुधार से सम्बन्धित समिति (भारत सरकार, योजना आयोग, 1959) की रिपोर्ट में बतलाए अनुसार, कृषि भूमियों पर अधिकतम सीमा अधिरोपित करने की नीति निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करती है—

(i) भूमि रखने की व्यापक इच्छा की पूर्ति करना,

(ii) भूमि के स्वामित्व और प्रयोग में स्पष्ट असमानताओं को कम करना,

(iii) कृषि आय में असमानताओं को कम करना, और

(iv) स्वनियोजन के क्षेत्र में वृद्धि करना।"

वर्किंग ग्रुप आन लैण्ड रिफार्म्स, 1978 (कृषि और सिंचाई मंत्रालय, कृषि विभाग) की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि इस बात को व्यापक रूप से मान्यता प्रदान की गई है कि कृषि जोतों पर अधिकतम सीमा अधिरोपित करना और अभिधृति सुधार कृषि सुधार आंदोलन के महत्वपूर्ण भाग हैं तथा छोटे समूहों के हाथों में भूमि का केन्द्रण उत्पादन को रोकता है, स्वीकृत या अनियमित अभिधृतियों को बढ़ावा देता है और ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादन की सुविधाओं में असमानता पैदा करता है किसी भी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें कृषि क्षेत्र का महत्व हो, अर्थ-व्यवस्था का विकास कृषि उत्पादन में वृद्धि से ही अधिकांशत: अवधारित किया जाता है तथा उत्पादन पर लगे नियंत्रण की समाप्ति राष्ट्र की प्राथमिकताओं में से एक बहुत बड़ी प्राथमिकता होनी चाहिए। कतिपय विकासशील देशों के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि छोटी जोतों का उत्पादन बड़ी जोतों के उत्पादन से स्वीकार्यत: अधिक हो सकता है, क्योंकि प्रारम्भत: कृषि संक्रियाओं की सघनता जोत के आकार के अनुसार कम ज्यादा होती है। वर्किंग ग्रुप की रिपोर्ट के पैरा 2.1 में यह कहा गया है कि सब परिस्थितियों में यह बात सही है या नहीं कि ऐसी

1980(11) eILR(PAT)

उत्पादन पद्धति में, जो बड़ी संख्या में कर्मकारों को लाभप्रद नियोजन के अवसरों से इनकार करती है और आर्थिक हानि के वितरण में स्पष्ट विकृतियां पैदा करती है, अनिवार्य रूप से सुधार करने की आवश्यकता है। पैरा 2.2 में रिपोर्ट में यह कहा गया है कि अधिकतः कृषक समाज में सामाजिक पद्धति में भूमि के स्वामितत्व और व्यक्ति की हैसियत में बहुत गहरा सम्बन्ध है। भूमिहीन व्यक्ति न ही केवल आर्थिक हानि से पीड़ित होते हैं किन्तु उन्हें सहवर्ती सामाजिक हानि भी सहन करनी होती है। इन्हीं सब बातों को देखते हुए सब भूमिहीन व्यक्तियों को भूमि देना सम्भव नहीं है किन्तु कृषि भूमि के पुनः वितरण के कार्यक्रम को बिल्कुल भी कार्यान्वित न करने के लिए इस बात का बहाना नहीं लिया जा सकता। इसलिए कृषि सुधार अन्य बातों के साथ बड़े जोतों में कमी करने और सामाजिक तथा आर्थिक दशा के अनुसार अधिक भूमि का वितरण करने की अपेक्षा करता है।

28. संविधान के ये उद्देश्य हैं और यही कारण हैं कि जिनके कारण प्रथम संशोधन पर बल दिया गया था। अनुच्छेद 31-क(1) अपने मूल दार्शनिक सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में स्वयं ही मूल संविधान में सरलता से सम्मिलित किया जा सकता था। इस आशा में कि हितबद्ध व्यक्ति संविधान के मूल आधार को विकृत नहीं करेंगे, करने के लिए जो रह गया था उसे अति आवश्यकता और औचित्यता की भावना से करना पड़ा था। वह भाव और संवेदनशीलता ही है जिसने आक्षेपित संशोधन को जन्म दिया है। किसी देश के अवविकास में प्रगति तीव्र हो सकती है, विशेषतया आर्थिक असमानताओं और जाति की बाधाओं द्वारा खण्डित समाज में। हम ऐसे सांविधानिक युग में काम कर रहे हैं जिसमें यह वचन दिया गया है कि हम सब नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समता तथा कम से कम व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करेंगे। इन वचनों और प्रथम संशोधन के बीच प्रत्यक्ष और निकटतम विचारणीय सम्बन्ध है। वास्तव में, यदि हमारे जैसे कृषि प्रधान समाज में कोई स्थान है जहां नागरिक समान न्याय की आशा कर सकता है तो वह भू-खण्ड ही है जिसे वे जोतते और प्यार करते हैं। भूमि जो उन्हें व्यक्तिगत गरिमा प्रदान करती है और आजीविका के अच्छे साधन प्रदान करती है।

29. इस प्रकार प्रथम संशोधन ने जीवन की सच्चाई के रूप में समान न्याय का सांविधानिक आदर्श पेश किया है। वह ऐसे दर्पण के समान है जो संविधान के आदर्शों को प्रतिबिम्बित करता है। वह संविधान के मूल ढांचे

को नष्ट करने वाला नहीं है कृषि प्रयोजनों और उससे आनुषंगिक प्रयोजनों के लिए धारित या भाटक पर दी गई भूमियों में अधिकारों के निर्वापन या उपान्तरण के लिए प्रथम और चतुर्थ संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित उपबन्ध संविधान के मूल ढांचे को कमजोर करने की बजाय सुदृढ़ करते हैं।

30. प्रथम संशोधन का उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करना है। यह हो सकता है कि विद्यमान असमानताओं को दूर करते समय सीमान्त और आकस्मिक रूप से नई विषमताएं उद्भूत हो सकती हैं। ऐसी सीमान्त और आकस्मिक असमानताएं संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं कर सकती। तथापि विशेषज्ञ रूप से सलाह प्राप्त की हुई, सामाजिक रूप से प्रेरित और प्रज्ञावान रूप से व्यवस्थित किसी भी सरकार के लिए ऐसे व्यक्तियों के वर्ग को, जो विधि के अधीन समान व्यवहार प्राप्त करने के लिए हकदार हैं, कुछ कठिनाई या अन्याय कारित किये बिना प्रत्येक आर्थिक असमानता को दूर करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार पुनरीक्षित अधिकतम सीमा के लिए लागू किए जाने वाले यूनिट के रूप में "कुटुम्ब यूनिट" अंगीकार किए जाने से अवयस्क बच्चे और अविवाहित पुत्रियों को आकस्मिक कठिनाई हो सकती है। हमारी राय में वह आक्षेपित विधियों पर आक्षेप करने के लिए इस आधार पर कोई तर्क नहीं हो सकता कि वे समता की प्रत्याभूति का अतिक्रमण करते हैं। हमें वास्तव में व्यंग्यात्मक रूप से यह प्रतीत होता है कि कृषि की अधिकतम सीमा के लिए उपबन्ध करने वाली विधियों की समता की प्रत्याभूति को नष्ट करने वाली विधियों के रूप में निन्दा की जा सकती है जब उनका सही उद्देश्य और आशय कृषि जोतों के मामले में असमानताओं को दूर करने का होता है।

31. कुटुम्ब यूनिट को पुनरीक्षित अधिकतम सीमा लागू करने के लिए यूनिट के रूप स्वीकार करने हेतु मई, 1959 में योजना आयोग द्वारा स्थापित पैनल का टिप्पण और महाराष्ट्र सरकार के उपसचिव श्री जे० पी० करंदिकर का प्रतिशपथपत्र कृषि सुधार के आंदोलन में वास्तविक रूप से प्रवर्त्तनीय यूनिट के रूप में मानने के लिए कुटुम्ब की सुसंगता और प्रभाव दर्शाता है। भारतीय समाज की निर्धनता पर विचार करने के पश्चात् पैनल इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि कृषि की अधिकतम सीमा को बहुत ही समतापूर्वक लागू किया जा सकता है, यदि लागू किए जाने वाले आधार को ऐसे कुटुम्ब यूनिट के रूप में माना जाता है जिसमें पति, पत्नी उनके तीन अवयस्क

1980(11) eILR(PAT

बच्चे हों। इस विशेषज्ञ आंकड़ों को देखते हुए हम इस बात की प्रशंसा करने में असमर्थ हैं कि अनुच्छेद 31-क(1)(क) के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए सही रूप से पारित कोई विधि को किस प्रकार से इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 का अतिलंघन करती है।

32. इन कारणों से हमारा यह मत है कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 4 द्वारा अन्तस्थापित संशोधन संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है, इसलिए उस संशोधन को उसकी अपनी गुणता के आधार पर कायम रखा जाना चाहिए।

33. इससे इस बात पर विचार करना अनावश्यक है कि क्या अनुच्छेद 31-क निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करके कायम रखा जा सकता है। तथापि हमने उस प्रश्न पर भी लम्बे और गवेषणा किए हुए तर्क सुने हैं जिनके मतभेद के बारे में हमें इस वैकल्पिक दलील पर अवश्य ही विचार करना चाहिए कि क्या निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त अनुच्छेद 31-क को व्यावृत कर सकता है यदि वह संविधान के मूल ढांचे का अन्यथा अतिक्रमणकारी हो। **शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ**[1] के मामले में प्रथम संशोधन की, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31-क और 31-ख अन्तःस्थापित किया गया था, विधिमान्यता को छह आधारों पर चुनौती दी गई थी। पांचवीं चुनौती यह थी कि अनुच्छेद 13(2) में न केवल साधारण विधियां ही सम्मिलित हैं, किन्तु संविधान संशोधन भी सम्मिलित है। इस तर्क को नामंजूर कर दिया गया था और प्रथम संशोधन को कायम रखा गया था। **सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य**[1] के मामले में न्यायालय ने **शंकरी प्रसाद के मामले**[2] के विनिश्चय पर पुनर्विचार करने से इन्कार कर दिया था जिसका परिणाम यह था कि प्रथम संशोधन की विधिमान्यता अप्रभावित रही थी। **गोलकनाथ के मामले**[3] में 6 : 5 के बहुत से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में निहित नहीं थी। इस अभिनिर्धारण का अनिवार्य परिणाम सब सांविधानिक संशोधनों को अभिखंडित करने का होना चाहिए, चूंकि बहुमत के अनुसार संसद् को अनुच्छेद 368 के अनुसरण में संविधान का संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं थी। किन्तु न्यायालय ने भविष्यलक्षी रूप से उलटने के सिद्धान्त का अवलम्ब लिया था

[1] [1965] 1 एस० सी० आर० 933.

[2] [1952] एस० सी० आर० 89.

[3] [1967] 2 एस० सी० आर० 762

1980(11) eILR(PAT) SC 1

और यह अभिनिर्धारित किया था कि सांविधानिक संशोधन, जो पहले ही किए जा चुके हैं, बिना किसी हस्तक्षेप के बने रहेंगे और उसका विनिश्चय केवल भविष्य के संशोधनों को ही लागू होगा। इसके परिणामस्वरूप प्रथम संशोधन, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31-क और 31-ख अन्तःस्थापित किए गए थे, अखण्ड बना रहा था। यह बहुत साधारण ज्ञान की बात है कि **गोलकनाथ के मामले**[1] के विनिश्चय को **केशवानन्द भारती के मामले**[2] में उलट दिया गया था और उस में एक-मत से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 368 में ही निहित है। पिटीशनरों ने हमारे समक्ष उस सिविल प्रकीर्ण पिटीशन की प्रतिलिपि, जो **केशवानन्द भारती के मामले**[2] में फाइल की गई थी, पेश की है जिसके द्वारा मूल रूप से मांगे गए अनुतोष उपान्तरित किए गए थे। उससे यह प्रतीत होता है कि उस मामले में जिस बात को चुनौती दी गई थी वह संविधान के 24वें, 25वें और 29वें संशोधन थे। प्रथम संशोधन की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी गई थी। तथापि न्यायाधिपति खन्ना ने असंशोधित अनुच्छेद 31-ग की विधिमान्यता पर विचार करते समय यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 31क की विधिमान्यता को **शंकरी प्रसाद के मामले**[3] में कायम रखा गया था, कि उसकी विधिमान्यता को निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त के कारण अब किसी प्रकार से चुनौती नहीं दी जा सकती तथा वह आधार, जिस पर अनुच्छेद 31क की विधिमान्यता को कायम रखा गया था, अनुच्छेद 31-ग के प्रथम भाग की विधिमान्यता को कायम रखने के लिए समान रूप से लागू रहेगा।

(पृष्ठ 744)

34. इस प्रकार अनुच्छेद 31-क की सांविधानिक विधिमान्यता को इन चार विनिश्चयों में कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से, कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से और कभी-कभी आनुषंगिक रूप से मान्यता प्राप्त हो गई है। हम सरसरी तौर पर इस बात का उल्लेख कर सकते हैं, यद्यपि उसका निर्णीतानुसरण के नियम के लागू होने से कोई संबंध नहीं है, कि इन तीन पूर्ववर्ती विनिश्चयों में से किसी में भी अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता की इस आधार पर जांच नहीं की गई थी कि वह संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करता है। उस सिद्धान्त की प्रथम बार **केशवानन्द भारती के मामले**[2] में विस्तारपूर्वक

---

[1] [1967] 2 एस० सी० आर० 762.

[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

[3] [1952] एस० सी० आर० 89.

1980(11) eILR(PAT)

व्याख्या की गई थी और उस मामले में किए गए बहुमत के निर्णय में ही सर्व-प्रथम उस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया ।

35. इस प्रकार यद्यपि अनुच्छेद 31-क को विद्यमान रूप में उस समय से मान्यता देनी पड़ी है जब से वह संविधान में अन्तःस्थापित किया गया था इसलिए हम उस अनुच्छेद को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण के सिद्धांत को लागू करना कुछ कठिन मानते हैं ।

36. **अम्बिका प्रसाद मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[1] के मामले में इसी न्यायपीठ ने तारीख 9 मई, 1980 को अपना निर्णय दिया था और उत्तर प्रदेश इम्पोजिशन आफ सीलिंग आन लैण्ड होल्डिंग्ज ऐक्ट, 1960 की विधि-मान्यता की चुनौती को नामंजूर कर दिया था । किन्तु उस मामले में इस प्रश्न का विनिश्चय नहीं किया गया था कि क्या अनुच्छेद 31-क को निर्णीता-नुसरण का सिद्धान्त लागू करके कायम रखा जा सकता है । वास्तव में, न्यायालय के सदस्यों की यह व्यापक भावना कि अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग (असंशोधित) की शक्तियों के प्रश्न का अन्य मामलों में विनिश्चय किया जाएगा, हमारे में से एक विद्वान बंधु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा, जिन्होंने न्यायालय की ओर से सर्वसम्मत निर्णय दिया था, विनिर्दिष्ट रूप से व्यक्त किए गए निम्नलिखित मत में परिलक्षित होती है—

> "इस निर्णय में हम अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग के सांविधानिक संशोधनों की शक्तियों से सम्बन्धित बड़े विवाद्यक पर विचार नहीं करेंगे चूंकि उन पर हाल ही में निपटाए गए अन्य मामलों में विचार किया जा चुका है ।" (पृष्ठ 721)

चूंकि इन तीन अनुच्छेदों की शक्तियों के प्रश्न पर न्यायालय की ओर से दिए गए निर्णय में विद्वान न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने अपने निर्णय में विचार नहीं किया था, हम, जैसे कि हमारे बीच पहले व्यवस्था की गई थी, इस निर्णय में उस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं । उक्त मामले के पृष्ठ 722 पर न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने इस स्थिति की निम्नलिखित शब्दों में पुनः पुष्टि की है—

> "इस प्रकार हमें कृषि सुधार के कानूनी मत के बारे में मालूम होता है और इसलिए अधिनियम की सांविधानिकता को अनु-च्छेद 31-क की कसौटी पर कसना होगा जो कि भूमि सुधार से

[1] [1981] 2 उम० नि० प० 985=(1980) 3 एस० सी० सी० 719.

सम्बन्धित विधियों के लिए एक सुसंगत रक्षोपाय है। यहां पर भी हमें इस बात का उल्लेख करना चाहिए कि जब हम सांविधानिक छूट की परिधि को निर्दिष्ट करते हैं तब अनुच्छेद 31-क कृषि सुधार सम्बन्धी उपाय प्रदत्त करता है। हम उस उपबन्ध पर हमारे विनिश्चय को आधारित नहीं करते हैं। आक्षेपित विधान अनुच्छेद 31-क से स्वतंत्र रहते हुए सांविधानिक अतिक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है इसलिए अनुच्छेद 31-क के सम्बन्ध में कोई और चुनौती अनुपयोगी है।"

न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने उसी पैरा में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

"इस प्रबल तर्क को कि स्वयं अनुच्छेद 31-क उसी प्रकार शून्य है जैसे कि वह संविधान के मूल ढांचे के अतिक्रमणकारी होने पर शून्य होता, आन्ध्र प्रदेश से सम्बन्धित बहुत से मामलों में हमारे विद्वान न्यायाधिपति बंधु भगवती द्वारा अस्वीकार कर दिया गया है।"

मामलों के उस समूह में से एक उद्धरण **थुमाटी वेंकय्या बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] का है जिसका विनिश्चय तारीख 9 मई, 1980 को किया गया था। किन्तु उस निर्णय में भी हमारे में से एक विद्वान बंधु न्यायाधिपति भगवती ने, जिन्होंने न्यायालय का सर्वसम्मत निर्णय दिया था, अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग की शक्तियों को निर्दिष्ट नहीं किया है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि हम में से किसी एक या दूसरे ने अर्थात् न तो विद्वान बंधु न्यायाधिपति भगवती ने और न ही विद्वान बंधु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग की शक्तियों के प्रश्न पर विचार किया है और हम इन अनुच्छेदों की शक्तियों पर इस निर्णय में विचार कर रहे हैं। **अम्बिका प्रसाद मिश्र के मामले**[2] के निर्णय के पैरा 5 में विद्वान बंधु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा व्यक्त मतों को देखते हुए यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है कि अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता पर **केशवानन्द भारती के मामले**[3] का विनिश्चय निर्णीतानुसरण की साधारण परिधि पर आबद्ध करता है। विद्वान बन्धु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने उसी पैरा में और सावधानी बरत करके एक बार पुनः स्थिति को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

---

[1] [1981] 2 उम० नि० प० 1114=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 568.

[2] [1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० आर० 719.

[3] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT)

"........जैसा कि पहले कहा जा चुका है हम अनुच्छेद 31-क पर निष्कर्ष आधारित नहीं करते हैं।"

37. निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त सामान्य विधि का आधार है। वह इंगलैंड में उद्‌भूत हुआ था और उसका कोलोनियों में अपने न्यायिक विनिश्चयों के आधार के रूप में प्रयोग किया गया था। डायस[1] के अनुसार नियम के उद्‌गम को तथ्यों को परिप्रेक्ष्य में, विशेषतया अंग्रेजी विधिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, जिसमें किसी संहिता के अभाव को छांटा जा सकता है। नार्मन्स फोरबोरे ने अर्थ-विजयित क्षेत्रों पर विदेशी संहिता अधिरोपित करने के लिए एक से नियमों को लागू करके अपने विधि प्रशासन में यथा सम्भव बहुत ही व्यापक रूप से विश्वास प्राप्त करना चाहा था। जितना पुराना विनिश्चय होता है उतना ही उसका प्राधिकार होता है तथा उसे सही विधि अधिकथित करने वाले रूप में और अधिक सत्य रूप में स्वीकार किया जाता है। डायस ने यह कहा है कि जैसे-जैसे समय का अन्तराल बढ़ता जाता है न्यायाधीश पुराने विनिश्चयों की चुनौती के बारे में अधिकाधिक अनिइच्छुक होते जाते हैं। विद्वान लेखक ने ब्रेकटन और कोक के उदाहरण को उद्धृत किया है जो सदैव ही पुरानी नजीरों को अधिमानता देते थे। वास्तव में ब्रेकटन ने करीब 2000 मामलों की एक नोटबुक संकलित की है जो उसकी पुस्तक के लिए तात्विक है और उनमें से करीब 500 का प्रयोग किया है।

38. निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त अमेरिकन ज्यूरिसप्रूडेंस में स्थायी रूप से काफी गहराई तक बैठा हुआ है। उसे नीति-नियम के रूप में माना जाता है जो पूर्वानुमेयता, निश्चितता, एकरूपता और स्थायित्व की अभिवृद्धि करता है। यह कहा गया है कि विधिक पद्धति में आचरण के लिए स्पष्ट मार्गदर्शक सिद्धान्त होने चाहिएं जिससे कि लोग आश्चर्यता के विरुद्ध आश्वस्त होकर के अपने क्रियाकलापों की योजना बना सकें। प्रत्येक मामले में प्रत्येक प्रतिपादना के बारे में पुनः मुकदमेबाजी की आवश्यकता को समाप्त करने के लिए निष्पक्ष और शीघ्र न्यायनिर्णयन और भी महत्वपूर्ण है।[2] जब जनसाधारण के महत्व के मुद्दे पर विनिश्चयों की मात्रा का भार बहुत अधिक होता है, तब न्यायालयों की प्रवृत्ति निर्णीतानुसरण के नियम का पालन करने की होती है और वे बहुत ही पुराने उदाहरणों में परिवर्तन करना विधानमण्डल पर छोड़

---

[1] आर० डब्ल्यू० एम० डायस कृत "ज्यूरिस्प्रूडेंस" चतुर्थ संस्करण, (1976) पृष्ठ 166.

[2] देखिए हेराल्ड जे० ग्रीलियोट कृत "इंट्रोडक्शन टू लॉ एण्ड दि लीगल सिस्टम' पुस्तक के द्वितीय संस्करण (1979) का पृष्ठ 132.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

देते हैं यदि वह ऐसा करना आवश्यक या समीचीन समझें। **बर्नेट बनाम कोरोनेडो आयल एंड गैस कम्पनी**[1] के मामले में न्यायाधिपति ब्रैंडिज़ ने यह कहा है कि निर्णीतानुसरण सामान्यतया एक चतुर नीति होती है क्योंकि बहुत से मामलों में यह बहुत अधिक महत्वपूर्ण है कि लागू होने वाला विधि का नियम अच्छी तरह से सुस्थिर होने देने की बजाय स्थिर कर दिया जाए।

39. निर्णीतानुसरण के विषय पर विचार करते समय श्री एच० एन० सिरवई ने **कांस्टीट्यूशनल ला आफ इण्डिया**[2] नामक अपनी पुस्तक में यह बतलाया है कि न्यायाधीशों के लिए अनुशासन के निश्चित उपाय की पुष्टि करना कितना महत्वपूर्ण है ताकि पुराने स्थायी विनिश्चय केवल इस कारण से उलट न दिया जाए कि मामले में अन्य दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है। विद्वान लेखक ने आस्ट्रेलिया के एक मामले को उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया था कि यद्यपि न्यायालय को अपने स्वयं के विनिश्चयों पर पुनर्विचार करने की शक्ति है किन्तु यह बात केवल ऐसे सुझाव पर ही नहीं करनी चाहिए कि यदि मामले में अनिर्णीत विषय[3] पश्चात्वर्ती न्यायालयों के कुछ या सब सदस्य किसी भिन्न निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। इसके पश्चात् विद्वान लेखक ने हमारे उच्चतम न्यायालय के दो मामलों को निर्दिष्ट किया है जिनमें पूर्वोदाहरणों पर दृढ़ रहने के महत्व पर बल दिया गया था। **बंगाल इम्यूनिटी के मामले**[4] में न्यायाधिपति जगन्नाथ दास ने यह कहा है कि उच्चतम न्यायालय के, जो अन्तिम अपील न्यायालय है, विनिश्चयों की निश्चितता बहुत ही कमज़ोर हो जाएगी और यदि हम अपने स्वयं के हाल ही के निर्णयों को पुनर्विचार के लिए खुले रूप में मानते हैं तो बहुत ही हास्यास्पद स्थिति हो जाएगी। उसी मामले में न्या० बी० पी० सिन्हा ने यह कहा है कि यदि उच्चतम न्यायालय को अपने स्वयं के पूर्ववर्ती विनिश्चयों का इस साधारण से आधार पर पुनर्विलोकन करना पड़े कि अन्य मत सम्भव है, तो वादार्थी जनता को यह सोचने के लिए बढ़ावा मिल सकता है कि पुनर्विलोकन के लिए देश की उच्चतम न्यायालय में अवसर लेना सदैव ही महत्वपूर्ण होगा। **आयकर अधिकारी, टूटीकोरिन बनाम टी० एस० डी० नाडार**[5] के मामले में

---

[1] 285 यू० एस० 393.

[2] द्वितीय संस्करण (1975) जिल्द 1 पृष्ठ 59-61.

[3] ट्रामवेज केस (सं० 1)—(1914) 18 सी० एल० आर० 54 मु० न्या० ग्रिफित के अनुसार—पृष्ठ 58.

[4] [1955] 2 एस० सी० आर० 603.

[5] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 623.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

न्या० हेगडे ने अपने विसम्मत निर्णय में यह कहा है कि उच्चतम न्यायालय को बाध्यकारी परिस्थितियों के सिवाय अपने विनिश्चय उलटने नहीं चाहिए। न्यायालय ऐसा केवल तभी कर सकता है जब उसका पूर्ण रूप से यह समाधान हो जाए कि सारवान् स्वरूप का लोकहित पूर्ववर्ती विनिश्चय द्वारा संकट में पड़ जाएगा और तभी न्यायालय को ऐसा विनिश्चय उलटना चाहिए। विद्वान न्यायाधीश के अनुसार पूर्ववर्ती विनिश्चयों का पुनर्विचार बहुत ही लोक महत्व के प्रश्नों तक सीमित रहना चाहिए। विधिक समस्याओं को केवल मानसिक व्यायाम के विषयों के रूप में ही नहीं मानना चाहिए। इसलिए किसी पूर्ववर्ती विनिश्चय को केवल तभी उलटा जा सकता है जब न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे के वह स्पष्ट रूप से गलत है और उसे केवल इस सुझाव पर किसी विनिश्चय को नहीं उलटना चाहिए कि यदि मामले में कोई अनिर्णीत विषय रहा तो। पश्चात्‌वर्ती न्यायालय के सदस्य किसी भिन्न निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं।

40. विनिश्चय और पुस्तकों के पाठ उच्च प्राधिकारी के हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में ये विनिश्चय पूर्वोदाहरणों के बाध्यकारी स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं पूर्वोदाहरण है।

41. यह कहना भी सही है कि निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पूर्ववर्ती विनिश्चयों या बहुत लम्बी अवधि के विनिश्चयों पर ही विचार किया जाना चाहिए तथा किसी ऐसे विशेष तर्क को स्वीकार या नामंजूर किया जाना चाहिए जैसा प्रस्तुत मामले में दिया गया है। यदि ऐसा होता, तो पूर्ववर्ती विनिश्चयों को बहुत ही सरलता से पूर्वोदाहरण विधि को लागू करके आबद्धकारी रूप में माना जा सकता है और निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का अवलम्ब लेना अनावश्यक होगा। इसलिए निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए यह पर्याप्त है कि ऐसे किसी प्रश्न पर कोई निश्चित विनिश्चय किया गया हो जो तभी हुआ हो। इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि किस आधार पर विनिश्चय आधारित है या विनिश्चय का आधार क्या है। अन्य शब्दों में निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के प्रयोजन के लिए इस बात की जांच करना या अवधारण करना अनावश्यक है कि ऐसे पूर्ववर्ती विनिश्चय का विनिश्चयाधार क्या था जिसे निर्णीतानुसरण के रूप में प्रवृत्त होना कहा गया है। इसलिए वह कारण जिससे अनुच्छेद 31-क को पूर्ववर्ती विनिश्चयों में कायम रखा गया था, यदि वास्तव में यही था, इस बात का विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए संगत नहीं है कि क्या यह एक उचित मामला है जिसमें उस नियम को लागू किया

1980(11) eILR(PAT) SC 1

जा सकता है। किन्तु चार ऐसे प्रमुख कारण हैं जिनसे हम अनुच्छेद 31-क की सांविधानिकता का विनिश्चय करने के लिए निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने के लिए प्रेरित नहीं हैं। प्रथमतः, अनुच्छेद 31-क अपने स्वयं के महत्व के कारण अस्तित्व में है और हमारे संविधान के मूल लक्षणों के आधार पर आधारित है। उसकी अलिखित परिधि संविधान के मूल ढांचे का ही अंग है और जैसा कि उसे होना चाहिए, वह उन आदर्शों के लिए एक दर्पण है जिन्होंने संविधान के निर्माण के लिए प्रेरित किया था।

42. अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता का अवधारण करते समय दूसरा कारण जिससे हम निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का अवलंब नहीं लेना चाहते हैं, यह है कि न तो **शंकरी प्रसाद के मामले**[1] में और न ही **सज्जन सिंह**[2] **और गोलक नाथ**[3] के मामले में और न ही स्पष्ट रूप से **केशवानन्द भारती के मामले**[4] में अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया था और न ही ऐसे प्रश्न का विनिश्चय किया गया था। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, **शंकरी प्रसाद के मामले**[1] में यह व्यापक प्रश्न अन्तर्वलित था कि क्या सांविधानिक संशोधन संविधान के अनुच्छेद 13 (2) की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वे अनुच्छेद 13(2) की परिधि में नहीं आते हैं। **सज्जन सिंह के मामले**[2] में इस मांग को नामंजूर कर दिया गया था कि **शंकरी प्रसाद के मामले**[1] के विनिश्चय पर पुनर्विचार किया जाए अर्थात् न्यायालय एक बार पुनः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए उत्सुक नहीं था कि क्या सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 (2) के निबंधनों में सम्मिलित है। **गोलक नाथ के मामले**[3] में उठाया गया प्रश्न यह था कि संशोधन शक्ति किसमें निहित है न कि यह प्रश्न कि कोई विशेष संशोधन विधिमान्य है या नहीं। इन विनिश्चयों में से किसी भी विनिश्चय में अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता के प्रश्न को नहीं उठाया गया था और वास्तव में उस प्रश्न पर विचार भी नहीं किया गया था और उन मामलों में से किसी भी मामले में उसका विनिश्चय भी नहीं किया गया था। उस प्रश्न पर, जो मामले में उद्भूत हुआ है या जो विवादास्पद है, तर्क सुनने के पश्चात् जानबूझकर किया गया न्यायिक विनिश्चय पूर्वोदहारण हो सकता है, तथा

---

1 [1952] एस० सी० आर० 89.

2 [1965] 1 एस० सी० आर० 933.

3 [1967] 2 एस० सी० आर० 762.

4 [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

पूर्वोदाहरण लम्बी मान्यता के पश्चात् निर्णीतानुसरण का स्वरूप ले सकता है। किन्तु इन मामलों को विनिश्चय किए गए रूप में इस कारण से नहीं माना जा सकता कि प्रथम संशोधन, जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-क जोड़ा गया था विधिमान्य है।

43. तृतीयत:, विश्व की सांविधानिक विधि का इतिहास यह दर्शाता है कि निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को केवल सीमित रूप में लागू होने वाले सिद्धान्त के रूप में माना जाता है। न्यूयार्क बनाम यूनाइटेड स्टेट्स[1] के मामले में न्यायाधीश विलियम डगलस ने यह कहा है कि निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को विधि के उन क्षेत्रों तक निर्बन्धित रखना एक चतुर नीति है जहां संशोधन विधान द्वारा किया जा सकता है। अन्यथा संविधान का लचीलापन नष्ट हो जाता है और यदि उत्तरवर्ती पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करना है तो ऐसा लचीलापन आवश्यक है। इसी कारण से पुन: न्यायाधीश फ्रैंकफर्ट ने यू० एस० बनाम इंटरनैशनल बाक्सिंग क्लब[2] के मामले में यह कहा है कि निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को तर्क की सीमा में बांधकर नहीं रखा जा सकता। किसी विनिश्चय की जितनी पुरानी अवस्थिति होगी उतनी ही निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने की प्रेरणा होगी। मैकफर्सन बनाम ब्यूरिक मोटर कम्पनी[3] के मामले में न्यायाधीश बैंजामिन कार्डोजो द्वारा इस स्थिति से उद्भूत होने वाली एक सम्भव रिष्टि बतलाई गई थी और उन्होंने यह कहा था कि मंजिली गाड़ी (स्टेज कोच) द्वारा यात्रा करने के दिनों से निकाले गए पूर्वोदाहरण आधुनिक यात्रा की दशाओं को लागू नहीं होते हैं। इसी संभावना के समान न्यायाधीश ब्रेंडीज ने स्टेट आफ वाशिंगटन बनाम डब्ल्यू० सी० डाउसन एंड कम्पनी[4] के मामले में यह कहा है कि निर्णीतानुसरण केवल कार्यवाही का एक बुद्धिमतापूर्ण नियम है और सर्वमान्य तथा अपरिवर्तनशील आदेश नहीं है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें न्यायालय ने उसकी निंदा को नहीं माना है। वास्तव में "स्टेरे डिसिसिस" सिद्धांत का पूर्ण प्ररूप "स्टेरे डिसिसिस एट नॉन क्वायटर मूवरे" है जिससे यह अभिप्रेत है कि विनिश्चय के अनुसार कार्य करना और जो तय हो चुका है उसमें कोई हस्तक्षेप न करना। इस सिद्धान्त का कोक ने इस प्रकार रूपान्तर किया है "उन बातों में, जिनके बारे में कई बार न्याय-निर्णयन हो चुका है, हस्तक्षेप

---

[1] (1946) 326 यू० एस० 572.

[2] (1955) 348 यू० एस० 236.

[3] (1916) एन० वाई० 382.

[4] (1924) 264 यू० एस० 219.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

नहीं किया जाना चाहिए।" इस नियम का ऐसा न्यायौचित्य होने से जेम्स मूनरो बनाम फ्रेंक पापे[1] के मामले में यह कहा गया था कि निर्णीतानुसरण की सुसंगत अपेक्षाएं ऐसे निर्वचन पर विचार करने को अपवर्जित नहीं करती है जो अपरीक्षित उपधारणा के रूप में प्रारंभ किया गया था। हम पहले ही यह बतला चुके हैं किस प्रकार से अनुच्छेद 31-क की सांविधानिक विधिमान्यता को आनुमानिक तर्क की प्रक्रिया द्वारा शंकरी प्रसाद के मामले[2] में कायम रखे गए रूप में माना गया था। उस मामले में वास्तविक प्रश्न यह था कि क्या अनुच्छेद 13 (2) में "विधि" पद में सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधि सम्मिलित है।

44. श्री तारकुंडे द्वारा उद्धृत चौथा कारण यह है कि सिद्धांत के अनुसार निर्णीतानुसरण जैसे नियम को अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग, जो न केवल पिछली विधियों को संरक्षित करने के लिए परिकल्पित हैं किन्तु भविष्य की विधियों को भी संरक्षित करने के लिए परिकल्पित हैं, जैसी सांविधानिक युक्तियों को कायम रखने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। यह अनुमान करने पर कि अनुच्छेद 31-क इस आधार पर अविधिमान्य था कि वह संविधान के मूल ढांचे का अतिक्रमण करता है तो यह तथ्य कि उसकी विधिमान्यता को लम्बे समय से मान्यता प्रदान की गई है, उसके संरक्षण को भविष्य की विधियों तक या ऐसी विधियों तक, जो हाल ही में विधानमंडल द्वारा पारित की गई हैं, विस्तारित किए जाने को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता। निर्णीतानुसरण का सिद्धांत यदि लागू किया जा सकता है तो वह इन अनुच्छेदों द्वारा संरक्षित विधियों को लागू किया जा सकता है यदि उन विधियों को बहुत लम्बे समय से इन अनुच्छेदों का संरक्षण प्राप्त हुआ हो। किन्तु, यह सिद्धांत स्वयं अनुच्छेदों को लागू नहीं हो सकता। निर्णीतानुसरण का सिद्धांत ऐसी विधियों की व्यावृत्ति करने के लिए अनुज्ञात करता है जिसकी विधिमान्यता को कई वर्षों से स्वीकार किया गया है या मान्यता दी गई है। वह भविष्य में भी ऐसी अपेक्षा नहीं करता है या स्वीकृति नहीं देता है कि विधियां उस समय भी पारित कर दी जाएं जब वे अविधिमान्य या असांविधानिक हों। अवैधता की भविष्य की तैयारी निर्णीतानुसरण के सिद्धांत का भाग नहीं है।

45. अनुच्छेद 31-क की व्यावृति के लिए निर्णीतानुसरण के नियम को लागू करने में हमारी अरुचि का कोई महत्व नहीं है क्योंकि हमने उस

[1] 5 लायर्स एडीशन सेकण्ड यू० एस० 492.

[2] [1952] एस० सी० आर० 89.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

अनुच्छेद की सांविधानिक विधिमान्यता को उसके स्वयं के गुणागुण के आधार पर स्वतंत्र रूप से कायम रखा है।

46. अनुच्छेद 31-ख की विधिमान्यता पर विचार करते समय उस अनुच्छेद में भी मूल अधिकारों के अतिक्रमण के आधार पर चुनौती से विधियों की व्यावृत्ति के लिए एक युक्ति अन्तर्विष्ट है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 31-ख में यह उपबन्ध है कि नवम् अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों को इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुआ न समझा जाएगा कि वे संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनते या न्यून करते हैं। अनुच्छेद के उपबन्ध स्पष्ट हैं और वे अनुच्छेद 31-क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना हैं तथा अनुच्छेद का अन्तिम भाग किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश को अतिष्ठित करता है। यह अनुच्छेद संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा संविधान में जोड़ा गया था। अनुच्छेद 31-क भी उसी संशोधन अधिनियम की धारा 4 द्वारा जोड़ा गया है।

47. अनुच्छेद 31-ख को नवम् अनुसूची के साथ पढ़ना चाहिए क्योंकि केवल वे अधिनियम और विनियम ही उस अनुसूची में रखे गए हैं जिन्हें उस अनुच्छेद का संरक्षण प्राप्त हो सकता है। नवम् अनुसूची संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 14 द्वारा संविधान में जोड़ी गई थी। युक्ति या प्रक्रिया, जो प्रथम संशोधन की धारा 5 और 14 द्वारा अपनाई गई है, यह है कि जब अधिनियम और विनियम समय समय पर किए गए सांविधानिक संशोधनों द्वारा नवम् अनुसूची में रखे जाते हैं तब उन्हें स्वतः ही अनुच्छेद 31-ख के उपबन्धों के कारण उस अनुच्छेद का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। नवम् अनुसूची की मद सं० 1 से 13 उस अनुसूची में उस समय रखी गई थी जब प्रथम संशोधन 18 जून, 1951 को अधिनियमित किया गया था। ये मदें कृषि सुधार विधानों के विशेष उदाहरण हैं। ये मदें अधिकांशतः विभिन्न अभिधृतियों के, जैसे मालिकी, तालुकदारी, मेहवासी खोटी, परगना, और कुलकर्णी, वतन और जमींदारी तथा जागीरदारी की समाप्ति से सम्बन्धित हैं। अनुसूची में सर्वोच्च स्थान बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 का है जो मद सं० 1 है जिसके कारण अनुच्छेद 31-क और किसी सीमा तक अनुच्छेद 31-ख अधिनियमित करना पड़ा था। नवम् अनुसूची में मद सं० 2 के रूप में मुम्बई आभोग और कृषिक भूमि अधिनियम,

1980(11) eILR(PAT) SC 1

1948 है। मद सं० 14 से 20 तक संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा, मद सं० 21 से 64 तक संविधान (17वां संशोधन) अधिनियम, 1964 द्वारा मद सं० 65 और 66 संविधान (29वां संशोधन) अधिनियम, 1972, मद सं० 67 से 86 तक संविधान (34वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा, मद सं० 88 से 124 तक संविधान (39वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा और मद सं० 125 से 188 तक संविधान (40वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ी गई थी। नवम् अनुसूची धीरे-धीरे घनी होती जा रही है और यह प्रतीत होगा कि इसके लिए कोई योजना आवश्यक है। किन्तु यह एक दूसरी बात है। हम केवल इस बात का स्मरण करा सकते हैं कि जवाहर लाल नेहरू ने प्रथम संशोधन पर बोलते हुए संसद् को यह आश्वासन दिया था कि उन 13 मदों को जोड़ने की कोई इच्छा नहीं थी जो प्रथम संशोधन के साथ नवम् अनुसूची में सम्मिलित की गई थी तथा यह चाहा गया था कि अनुसूची में उस प्रकार की विधियों से भिन्न प्रकार की विधियां सम्मिलित न की जाएं जो मद सं० 1 से 13 में आती हैं। प्रधान मन्त्री द्वारा 13 मदों की छोटी सूची को भी लम्बी अनुसूची कहा गया था।

48. अनुच्छेद 31क की विधिमान्यता पर विचार करते समय हमने यह मत व्यक्त किया है कि उस अनुच्छेद की विधिमान्यता को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को लागू करना उचित नहीं होगा। यद्यपि वे ही बातें अनुच्छेद 31ख की विधिमान्यता के प्रश्न को भी लागू होंगी। हम यह बतलाना चाहेंगे कि अनुच्छेद 31क और 31ख के बीच जैसी महत्वपूर्ण समानताएं भी हैं। अनुच्छेद 31क अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा दी गई प्रत्याभूमि के अतिक्रमण में खण्ड (क) से (ङ) तक में उल्लिखित प्रकार की विधियां पारित करने के लिए समर्थ बनाता है। संसद् को अपनी सांविधानिक शक्ति का प्रयोग करने में या अन्यथा उन विधियों की परीक्षा करना अपेक्षित नहीं होता है जिन्हें अनुच्छेद 31क का संरक्षण प्राप्त होना है। अन्य शब्दों में जब कोई सक्षम विधानमंडल अनुच्छेद 31क के खण्ड (क) से (ङ) तक की परिधि में कोई विधि पारित करता है, तो उसे स्वतः ही अनुच्छेद 31क का संरक्षण प्राप्त हो जाता है जिसका परिणाम यह है कि विधि को अनुच्छेद 14 और 19 के अतिक्रमण के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। जहां तक अनुच्छेद 31ख का सम्बन्ध है, वह विधियों के उस प्रवर्ग को परिभाषित नहीं करता है, जिन्हें उनका संरक्षण प्राप्त होना है तथा द्वितीयतः, अनुच्छेद 31क से कुछ और आगे बढ़ने पर वह संविधान के भाग 3 के सब उपबन्धों के विरुद्ध अनुसूची की विधियों को संरक्षण देता है।

1980(11) eILR(PAT) SC 1

संसद के सिवाय कोई भी अधिनियम नवम् अनुसूची में नहीं रखा जा सकता और चूंकि नवम् अनुसूची संविधान का एक भाग है, इसलिए उसमें संविधान के संशोधनों को लागू होने वाले निर्बन्धित उपबन्धों का अनुपालन किए बिना कोई भी परिवर्धन या परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अनुच्छेद 31ख नवम् अनुसूची के साथ पढ़ने पर ऐसे सब अधिनियमों को, जो अनुसूची में सम्मिलित किए गए हैं, संरक्षण प्रदान करता है चाहे उनका स्वरूप, प्रकार या प्रवर्ग जो भी हो। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चूंकि अनुच्छेद 31-क परिभाषित प्रवर्ग की विधियों को संरक्षण प्रदान करता है, अनुच्छेद 31-ख संसद को नवम् अनुसूची में ऐसी विधियों को सम्मिलित करने के लिए सशक्त करता है, जिन्हें वह उसमें सम्मिलित करने के लिए ठीक और उचित समझे। 39वें संशोधन में, जो तारीख 10 अगस्त, 1975 को पारित किया गया था, मद सं० 87 से 124 तक सम्मिलित करने के लिए एक बहुत ही व्यापक कार्यक्रम बनाया गया था, जब कि संविधान (40वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा एक ही बार में मद सं० 125 से 188 तक नवम् अनुसूची में जोड़ी गई थी।

49. अनुच्छेद 31क और 31ख के बीच इस प्रभेद को बतलाने की आवश्यकता वह कठिनाई है जो स्पष्ट रूप से नवम् अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31ख के सम्बन्ध में निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को लागू करने में उद्भूत हो सकती है। हमारे द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह सिद्धान्त अनुच्छेद 31क को लागू नहीं होता है। अनुच्छेद 31-क को निर्णीतानुसरण का नियम लागू न करने के लिए हमारे द्वारा दिया गया चौथा कारण यह है कि खण्ड (क) से (ङ) तक के अधीन पारित कोई भी विशेष विधि को विधिमान्य रूप में स्वीकार किया जा सकता है यदि उसे कई वर्षों से विधिमान्य रूप में माना गया हो। किन्तु अनुच्छेद के रूप में युक्ति को वह नियम लागू करके कायम नहीं रखा जा सकता। हम नवम् अनुसूची के साथ पढ़ने पर अनुच्छेद 31ख को स्वतः ही वह कसौटी लागू करने की प्रस्थापना करते हैं।

50. हम केशवानन्द भारती के मामले[1] के विनिश्चय को सीमाचिह्न के रूप में मानते हुए सीमा रेखा खींचने का प्रस्ताव करते हैं। उस विनिश्चय के पूर्व नवम् अनुसूची में कई अधिनियम इस उपधारणा पर रखे गए थे कि संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति व्यापक और बिना रुकावट के है। इस सिद्धान्त को कि संसद अपनी संशोधन शक्ति का इस प्रकार से प्रयोग नहीं

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(II) eILR(PAT) SC 1

कर सकता जिससे संविधान का मूल ढांचा क्षतिग्रस्त या नष्ट हो, **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में प्रथम बार प्रतिपादित और स्वीकार किया गया था। तारीख 24 अप्रैल, 1973, जिस तारीख को **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में निर्णय दिया गया था, से पूर्व नवम् अनुसूची में सम्मिलित की गई विधियों को कायम रखने के लिए यह एक कारण है। इस सद्भाव और विश्वास के आधार पर बहुत बड़ी मात्रा में सम्पत्तियों का अन्तरण हो गया होगा और कई नए हक अस्तित्व में आ गए होंगे, कि नवम् अनुसूची में सम्मिलित विधियों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अतिक्रमण में थीं। हमारे द्वारा सुस्थिर दावों और हकों में हस्तक्षेप करना और उचित रूप से शान्त समाज के वैध क्रियाकलापों में संदेह और गड़बड़ी पैदा करना न्यायोचित नहीं होगा।

51. सुविधाजनक और सुसंगत समय पर सीमा रेखा बनाने का दूसरा कारण यह है कि नवम अनुसूची की प्रथम 66 मदें, जो **केशवानन्द भारती के मामले**[1] के विनिश्चय से पूर्व अन्तःस्थापित की गई थीं, अधिकांशतः कृषि सुधार की विधियों से सम्बन्धित हैं। उन 66 मदों में कुछ अपवाद हैं जैसे कि मद सं० 17, 18 और 19 जो बीमा, रेल और उद्योग से सम्बन्धित हैं। किन्तु अधिकांशतः सब अन्य मदें अनुच्छेद 31-क(1)(क) की परिधि के अन्तर्गत आएंगी। वास्तव में मद सं० 65 और 66, जो 29वें संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित की गई थी, केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 और केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 हैं जिन्हें विशेषतया **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में चुनौती दी गई थी। वह चुनौती नामंजूर कर दी गई थी।

52. इस प्रकार जहां तक नवम अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31-ख की विधिमान्यता का सम्बन्ध है, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि 24 अप्रैल, 1973 से पूर्व नवम अनुसूची में सम्मिलित सब अधिनियमों और विनियमों को अनुच्छेद 31-ख का पूर्ण संरक्षण प्राप्त होगा। उन विधियों और विनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि वे संविधान के भाग 3 के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं अथवा उन्हें छीनते या न्यून करते हैं। ऐसे अधिनियमों और विनियमों को, जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात नवम अनुसूची में सम्मिलित किए गए हैं, या सम्मिलित किए जाएंगे, इस स्पष्ट कारण से अनुच्छेद 31-ख का

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

संरक्षण प्राप्त नहीं होगा कि केशवानन्द भारती के मामले[1] के निर्णय को देखते हुए नवम अनुसूची में परिवर्धन करने के लिए कोई न्यायोचितता नहीं थी जिससे कि उसमें सम्मिलित विधियों को पूर्ण संरक्षण दिया जा सके। विभिन्न सांविधानिक संशोधन, जिनके द्वारा तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम अनुसूची में परिवर्धन किए गए थे, विधिमान्य केवल तभी होंगे जब वे संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करते हैं।

53. इसके पश्चात् असंशोधित अनुच्छेद 31-ग की सांविधानिक विधिमान्यता की चुनौती पर विचार शेष रह जाता है। जैसा कि हम इस निर्णय के प्रारम्भ में बतला चुके हैं, अनुच्छेद 31-ग संविधान (25वां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा जोड़ा गया था। प्रारम्भ में वह केवल उन विधियों को संरक्षण देने के लिए आशयित था जो संविधान के अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के बारे में राज्य की नीति को प्रभावी कर रही थी। ऐसी किसी विधि को इस आधार पर शून्य नहीं माना जा सकता कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों से असंगत हैं अथवा उसे छीनती या न्यून करती है। असंशोधित अनुच्छेद के अन्तिम भाग को, जो कतिपय घोषणाओं को अन्तिम रूप देता है, केशवानन्द भारती के मामले[1] में अभिखण्डित कर दिया गया था।

54. श्री एम० एन० फड़के ने, जिन्होंने पिटीशनरों की ओर से बहस की थी, अनुच्छेद 31-ग की शक्तियों के विरुद्ध अप्रिय प्रहार किया है। किन्तु विद्वान् काउन्सेल के प्रति आदर व्यक्त करते हुए उनका प्रयत्न निष्फल है क्योंकि अनुच्छेद 31-ग की विधिमान्यता के सम्बन्ध में प्रश्न अब अनिर्णीत विषय नहीं है। अनुच्छेद 31-ग के प्रारम्भिक खण्ड को केशवानन्द भारती के मामले[1] में बहुमत द्वारा कायम रखा गया था और हम भी ऐसा कोई कारण नहीं देखते हैं जिससे पिटीशनरों को उस विनिश्चय से पीछे हटने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है। विद्वान काउन्सेल ने हमारे समक्ष पूर्वोदाहरण के सिद्धान्त को लागू होने वाले सिद्धान्तों के बारे में एक बहुत ही रुचिकर तर्क दिया है और उन्होंने यह बहस की है कि केशवानन्द भारती वाले मामले[1] में दिए गए बहुत से निर्णयों को देखते हुए विनिश्चयाधार को समझना असंभव है क्योंकि विभिन्न विद्वान न्यायाधीशों ने अपने निष्कर्षों के, जो उन्होंने निकाले हैं, समर्थन में विभिन्न कारण दिए हैं। यह बात सुविदित है कि छह

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

न्यायाधिपतियों ने, जो केशवा नन्द भारती के मामले[1] में अल्पमत में थे, अनुच्छेद 31-ग के प्रथम भाग को कायम रखा था जो उनके इस मत का तर्कपूर्ण और अनिवार्य परिणाम था कि संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति में कोई अन्तर्निहित या विवक्षित सीमाएं नहीं थीं। न्यायाधिपति खन्ना ने उस मत का समर्थन नहीं किया था किन्तु इसके साथ ही उन्होंने विभिन्न कारणों से अनुच्छेद 31-ग के प्रथम भाग को कायम रखा था। 25वें संशोधन को, जिसके द्वारा असंशोधित अनुच्छेद 31-ग संविधान में जोड़ा गया था, विधिमान्यता का प्रश्न न्यायालय के समक्ष विनिर्दिष्ट रूप से उठाया गया था तथा उस निमित्त दिए गए तर्कों पर सभी छह अल्पमत वाले न्यायाधिपतियों और न्यायाधिपति खन्ना द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से विचार किया गया था। इन परिस्थितियों में हमें यह अभिनिर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है कि उन सात न्यायाधिपतियों के, जिन्होंने अनुच्छेद 31-ग की विधिमान्यता को कायम रखा था, बहुमत के विनिश्चय से कोई सामान्य विनिश्चयाधार मालूम नहीं किया जा सकता। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे साधारण मामलों को कठिन बनाया जाए तथा केशवा नन्द भारती के मामले[1] में बहुमत के निर्णय का विनिश्चयाधार यह है कि अनुच्छेद 31-ग का प्रथम भाग विधिमान्य है।

55. इसके अतिरिक्त यदि हम अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता को उसके अपने गुणागुण के आधार पर कायम रखने में सही हैं तो उसका तर्कसंगत परिणाम यह है कि असंशोधित अनुच्छेद 31-ग भी विधिमान्य है। अनुच्छेद 31ग का असंशोधित भाग असीमित समुद्र जैसा नहीं है। वह निश्चित और सीमित प्रवर्ग की ऐसी विधियों को संरक्षण देता है जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के बारे में राज्य की नीति को कार्यान्वित करने के लिए पारित की गई हैं। अनुच्छेद 39 के इन खण्डों में ऐसे नीति निदेशक तत्व अन्तर्विष्ट हैं जो देश की भलाई और उसकी जनता के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण हैं। हमने अनुच्छेद 31क द्वारा परिकल्पित विधियों के निश्चित प्रवर्ग के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, उसे अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) को कार्यान्वित करने के प्रयोजन के लिए पारित विधियों के सम्बन्ध में शायद अधिक बलपूर्वक ठीक माना जाना चाहिए। यह बात स्वीकार करना असम्भव है कि ऐसे प्रयोजनों के लिए पारित कोई भी विधि अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

का कुछ भी अतिक्रमण कर सकती है। अनुच्छेद 31 अब खतरे से बाहर है। वास्तव में अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए सही और सद्भाविक रूप से पारित विधियां संविधान के मूल ढांचे को हानि पहुंचाने की बजाय उस ढांचे को मजबूत करेंगी। हम यह आशा करते हैं कि संसद् अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट सिद्धान्तों से सम्बन्धित वास्तविक और सही विधियों को पारित करने में अपनी क्षमता का अधिकतम उपयोगी करेगी। इसलिए असंशोधित अनुच्छेद 31 ग के प्रथम भाग की विधिमान्यता को दी गई चुनौती असफल होती है।

56. एक छोटा सा स्पष्टीकरण, जो व्यावहारिक रूप से महत्वपूर्ण है, अनुच्छेद 31क, 31ख और 31ग की विधिमान्यता के सम्बन्ध में इस चर्चा के अन्त में देना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में सम्मिलित विधियों को स्वतः ही अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा। उन विधियों की इस बात का अवधारण करने के लिए पृथक् पृथक रूप से परीक्षा करनी होगी कि क्या सांविधानिक संशोधन, जिनके द्वारा वे नवम् अनुसूची में रखी गई हैं, किसी भी रीति में संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करता है। स्पष्टीकरण, जो हम करना चाहते हैं, यह है कि ऐसा प्रयोग निरर्थक हो जाएगा यदि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् नवम् अनुसूची में सम्मिलित विधियां अनुच्छेद 31क या असंशोधित अनुच्छेद 31ग की परिधि और क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। यदि वे विधियां इन अनुच्छेदों द्वारा व्यावृत हैं तो इस बात का अवधारण करना अनावश्यक होगा कि क्या उन्हें भी नवम् अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त होगा। इस तथ्य से कि अनुच्छेद 31ख भाग 3 के "किन्हीं उपबन्धों" के विरुद्ध अनुसूचित-विधियों को संरक्षण प्रदत्त करता है और अन्य दो अनुच्छेद केवल अनुच्छेद 14 और 19 के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करते हैं, इस स्थिति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ेगा चूंकि अनुच्छेद 31 के लुप्त कर दिए जाने के पश्चात् भाग 3 के दो उपबन्ध, जो सुसंगत विधियों की विधिमान्यता के प्रश्न पर साधारणतया प्रवृत्त होंगे, अनुच्छेद 14 और 19 हैं।

57. पिटीशनरों ने विभिन्न सांविधानिक संशोधनों के बारे में की गई इन चुनौतियों के अतिरिक्त संविधान (40वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की विधिमान्यता को भी चुनौती दी है जिसके द्वारा 1975 के संशोधन अधिनियम सं० 21 और 41 तथा 1976 का संशोधन

1980(11) eILR(PAT) SC 1

अधिनियम सं० 2 नवम् अनुसूची में रखे गए थे। इस बात को स्मरण कराया जा सकता है कि मूल अधिनियम इन संशोधन अधिनियमों द्वारा संशोधित किया गया था। लोकसभा की पांच वर्ष की सामान्य अवधि तारीख 18 मार्च, 1976 को समाप्त होनी थी। किन्तु संसद् द्वारा लोकसभा (कालावधि विस्तारण) अधिनियम, 1976 द्वारा लोकसभा की एक वर्ष की कालावधि बढ़ाई गई थी। इस पर भी संसद् द्वारा लोकसभा (कालावधि विस्तारण) संशोधन अधिनियम, 1976 पारित किया गया था जिसके द्वारा लोकसभा की एक वर्ष के लिए और कालावधि बढ़ाई गई थी। लोकसभा द्वारा तारीख 2 अप्रैल, 1976 को अपनी विस्तारित अवधि के दौरान 40वां संशोधन पारित किया गया था। चूंकि उपर्युक्त दोनों अधिनियमों द्वारा लोकसभा की कालावधि उस समय बढ़ाई गई थी जब दोनों आपात्-उद्घोषणाएं प्रवृत्त थीं, इसलिए पिटीशनरों ने तारीख 3 दिसम्बर, 1971 और तारीख 25 जून, 1975 की आपात् उद्घोषणाओं और दोनों अधिनियमों को, जिसके द्वारा लोकसभा की अवधि बढ़ाई गई थी, चुनौती दी है। संविधान में 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में खण्ड (4) और (5) तारीख 3 जनवरी, 1977 से अन्तःस्थापित किए गए थे। उक्त संशोधन लोकसभा की विस्तारित अवधि के दौरान ही किया गया था। उस संशोधन को भी इसी कारण से चुनौती दी गई है। हमने **मिनर्वा मिल्स के मामले**[1] के निर्णय में सर्वसम्मति से उस संशोधन को इस कारण से अभिखण्डित कर दिया है कि वह संविधान के मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करता है। इस प्रकार अब हमें निम्नलिखित की विधिमान्यता पर ही केवल विचार करना है—

(1) तारीख 3 दिसम्बर, 1971 और तारीख 25 जून, 1975 की उद्घोषणाओं द्वारा आपात् स्थिति की प्रख्यापना,

(2) लोकसभा (कालावधि-विस्तारण) अधिनियम, 1976,

(3) लोकसभा (कालावधि-विस्तारण) संशोधन अधिनियम, 1976 और

(4) संविधान (40वां संशोधन) अधिनियम, 1976, इन सब की विधिमान्यता आन्तरिक रूप से जुड़ी हुई है और चुनौती का केन्द्र उपर्युक्त आपात् की उद्घोषणाएं हैं।

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 146=(1980) 3 एस० सी० सी० 625.

1980(11) eILR(PAT)

58, आपात् की उद्घोषणाओं की विधिमान्यता को मुख्यतः श्री ए० के० सेन, श्री एम० एन० फड़के, डाक्टर एन० एम० घटाटे और श्री पी० बी० सावंत द्वारा, जो 1977 के रिट पिटीशन सं० 63 में व्यक्तिगत रूप से हाजिर हुए हैं, चुनौती दी गई है। विद्वान काउन्सेल और श्री पी० बी० सावंत द्वारा यह दलील दी गई है कि न्यायालयों को इस बात की जांच करने की अधिकारिता है कि क्या आपात् की उदघोषणा करने के लिए अनुच्छेद 352 द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति का उचित रूप से प्रयोग किया गया है तथा इस बात का अवधारण करने की भी शक्ति है कि क्या आपात् स्थिति को जारी रखने के लिए न्यायोचित ठहराने वाली कोई परिस्थितियां हैं। कभी-कभी आपात् की घोषणा करने के लिए न्यायोचितता हो सकती है, किन्तु यदि आपात् स्थिति को, जो उचित रूप से घोषित की गई हो, बिना अधिकारिता के चालू रहने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो विद्वान काउन्सेल के अनुसार सत्तारूढ़ दल अपने शासन को चिरस्थायी बना सकता है और समय-समय पर संसद् की कालावधि का विस्तार करके सत्ता से चिपके रह सकता है। इसलिए अनुच्छेद 352 के उपबन्धों का उदारता से और प्रगतिशील रीति में निर्वचन किया जाना चाहिए ताकि संविधान का लोकतांत्रिक आदर्श अग्रसर हो और वह विफल न हो जाए। यह दलील दी गई है कि भारत की सुरक्षा की धमकी दिसम्बर, 1971 में पाकिस्तानी हमले के ठीक पश्चात् पूर्णतया समाप्त हो जाने से तारीख 3 दिसम्बर, 1971 को उद्घोषित आपात् स्थिति के चालू रहने को अन्यायोचित् और अवैध अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए।

59. विद्वान काउन्सेल द्वारा अपने इस तर्क के समर्थन में हमारे समक्ष तारीखों की एक सूची पेश की गई है कि तारीख 3 दिसम्बर, 1971 को घोषित आपात् स्थिति छह वर्ष से अधिक की कालावधि के लिए वैध रूप से प्रवृत्त नहीं रखी जा सकती। तारीख 3 दिसम्बर, 1971 को राष्ट्रपति ने पाकिस्तान के हमले को देखते हुए आपात् की उद्घोषणा यह कहते हुए जारी की थी कि गम्भीर आपात् स्थिति विद्यमान है जिसके द्वारा देश की सुरक्षा को बाह्य आक्रमण द्वारा धमकी दी गई है। संसद् के दोनों सदनों ने तारीख 4 दिसम्बर, 1971 को उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया था। यह वह तारीख है जिस पर भारत रक्षा अधिनियम, 1971 प्रवृत्त हुआ था। भारत रक्षा अधिनियम की धारा 22 के अधीन विरचित भारत रक्षा नियम, 1971 तारीख 16 दिसम्बर, 1971 को, पाकिस्तानी सेना ने बंगला देश में बिना शर्त के अभ्यर्पण कर दिया था और तारीख 17 दिसम्बर, 1971 का भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष समाप्त हो गया था। फरवरी, 1972 में

1980(11) eILR(PAT) SC 1

राज्य विधान सभाओं के साधारण निर्वाचन हुए थे। तारीख 28 अगस्त, 1972 को दोनों देशों ने युद्ध के कैदियों के विनिमय के लिए करार किया था और 30 अप्रैल, 1974 तक युद्ध के कैदियों की स्वदेश वापसी पूरी हो गई थी। तारीख 16 अगस्त, 1974 को, भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन हुआ था। तारीख 25 जून, 1975 को द्वितीय आपात् स्थिति की उद्घोषणा की गई थी जिसके लिए तारीख 27 जून, 1975 को अनुच्छेद 359 के अधीन अधिसूचना जारी की गई थी जिसके द्वारा अनुच्छेद 14, 21 और 22 के अधीन मूल अधिकारों के प्रवर्तन को निलम्बित कर दिया गया था। तारीख 16 फरवरी, 1976 को, लोकसभा (कालावधि विस्तारण) अधिनियम, 1976 पारित किया गया था। लोकसभा की सामान्य अवधि तारीख 18 मार्च, 1976 को समाप्त होनी थी। तारीख 2 अप्रैल, 1976 को लोकसभा ने 40वां संशोधन अधिनियम पारित किया था जिसके द्वारा मद सं० 157, 159 और 160 के रूप में नवम् अनुसूची में महाराष्ट्र भूमि अधिकतम सीमा संशोधन अधिनियम रखे गए थे। तारीख 24 नवम्बर, 1976 को लोकसभा (कालावधि का विस्तारण) संशोधन अधिनियम, 1976 पारित किया गया था जिसके द्वारा संसद् की अवधि एक वर्ष की कालावधि के लिए और बढ़ाई गई थी। 42वां संशोधन अधिनियम, तारीख 12 नवम्बर, 1976 को पारित किया गया था। लोकसभा तारीख 18 जनवरी, 1977 को भंग कर दी गई थी और दोनों आपात् स्थितियां तारीख 21 मार्च, 1977 को प्रतिसंहृत कर ली गई थीं।

60. इस प्रश्न पर कि क्या संविधान के अनुच्छेद 352(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई आपात् की उद्घोषणा न्याय योग्य विवाद्यक उठाता है, समय समय पर इस न्यायालय में बहस की गई। किन्तु किसी एक या अन्य कारण से यद्यपि इस प्रश्न पर संक्षेप में और कभी कभी चर्चा की गई है, तथा इस प्रश्न पर कोई प्राधिकृत निर्णय नहीं है। हम भी इस मामले में उस प्रश्न पर भागतः विचार नहीं करना चाहते हैं क्योंकि भविष्य में यह आशा करने के लिए अच्छे कारण हैं कि इस प्रकार की व्यथा न्यायालय के सामने लाने का कोई अवसर नहीं होगा जो उन परिस्थितियों के बारे में अब हमारे समक्ष की गई है जिनमें तारीख 25 जून, 1975 को आपात् उद्घोषणा जारी की गई थी। संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 की धारा 37 द्वारा, जो तारीख 20 जून, 1979 से प्रवृत्त हुई थी, अनुच्छेद 352 में खण्ड (2) से खण्ड (8) तक जोड़े गए थे, जो आपात् की उद्घोषणा जारी करने के लिए शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त आश्वासन देते हैं। नवीन

1980(11) eILR(PAT)

रूप से जोड़े गए खण्ड (3) द्वारा राष्ट्रपति उपखण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा तब तक जारी नहीं कर सकते जब तक कि केन्द्रीय मंत्रीमण्डल का यह विनिश्चय कि ऐसी उद्घोषणा जारी की जा सकती है, लिखित में राष्ट्रपति को संसूचित न कर दिया गया हो। खण्ड (4) के अधीन अनुच्छेद 352 के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के पटल पर रखनी होती है और वह एक मास की समाप्ति पर प्रवृत्त नहीं रहती है जब तक कि उस कालावधि की समाप्ति से पूर्व उसका संसद् के दोनों सदनों के संकल्प द्वारा अनुमोदन न कर दिया गया हो। खण्ड (4) में यह उपबन्ध है कि इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा, जब तक कि प्रतिसंहृत न की जाए, उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाले संकल्पों के पारित होने की तारीख से छह मास की कालावधि की समाप्ति पर प्रवृत्त नहीं रहती है।

61. यह प्रश्न कि क्या आपात् की उद्घोषणा का जारी किया जाना न्याय योग्य है, ऐसे विवाद्यक उद्भूत करता है जिनका उत्तर देना सरल नहीं है। किसी भी दशा में प्रश्न पर बहुत ही समुचित रूप से और स्पष्ट रूप से उस समय विचार किया जा सकता है जब वह प्रत्यक्ष रूप से न कि आनुषंगिक रूप से उद्भूत हुआ हो, जैसा कि यहां हुआ है। जहां तक कि तारीख 3 दिसम्बर, 1971 की उद्घोषणा का सम्बन्ध है, यह बात विवादग्रस्त नहीं है और वास्तव में इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि वात हेतुक के लिए स्पष्ट न्यायोचित्य था। देश की सुरक्षा को खतरा स्पष्ट रूप से विद्यमान था, इसलिए पिटीशनरों का प्रयत्न उस उद्घोषणा के अधीन आपत् स्थिति को चालू रखने पर आक्षेप करना। हमारे समक्ष पेश की गई विभिन्न तारीखों और उल्लिखित घटनाओं से किसी भी साधारण व्यक्ति के लिए यह निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि युद्ध के कैदियों के आदान-प्रदान की औपचारिकता पूरी होने के पश्चात् आपात् स्थिति चालू रखने का कोई कारण नहीं था। किन्तु हमें इस बात में संदेह कि क्या हमारे समक्ष पेश की गई सामग्री के आधार पर न्यायिक मत के तौर पर यह निष्कर्ष निकालना सुरक्षित होगा कि किसी निश्चित तारीख के पश्चात् आपात् स्थिति का चालू रहना अन्यायोचित और अवैध हो गया था। ऐसा अनुमान लगाना अनुचित ही होगा। समाचारपत्र और जनता आपात् की उद्घोषणा को प्रत्याहृत करने की आवश्यकता पर जनमत तैयार करने के लिए हकदार है। उनके पास सूचना एकत्रित करने के लिए विभिन्न स्रोत हैं जिनको वे प्रकट नहीं कर सकते और न ही वे साक्ष्य के नियमों द्वारा आबद्ध है और न ही न्यायिक प्रक्रिया के इन प्रारम्भिक नियमों का पालन करने के लिए भी आबद्ध हैं कि तथ्य, जिन पर

कोई निष्कष आधारित करना है, सम्भाव्य अनुमानों द्वारा सिद्ध किए जाने चाहिएं। किन्तु न्यायालयों पर कई प्रकार की रोके हैं जो उन्हें ऐसा कार्य करने से डराती हैं जो न्यायिक रूप से नहीं किया जा सकता। यह सुझाव दिया गया था कि तारीख 25 जून, 1975 की उद्घोषणा असद्भावनाओं के बारे में हमारे समक्ष रखा गया साक्ष्य न तो स्पष्ट है और न ही उससे सम्बन्धित है।

62. इस प्रकार प्रथमतः हम इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए उत्सुक नहीं हैं कि क्या आपात् की उद्घोषणा का जारी किया जाना न्यायालय के विचार योग्य विवाद्यक उद्भूत करता है। द्वितीयतः, यह उपधारणा करने पर भी कि वह उद्भूत करता है, अभिलेख की वर्तमान स्थिति से यह उत्तर देना सम्भव नहीं है कि विवाद्यक किसी एक या दूसरे पक्ष से सम्बन्धित है और अन्त में क्या पाकिस्तान के साथ युद्ध समाप्त होने के पश्चात् आपात् स्थिति को चालू रखना न्यायोचित था, एक ऐसी बात है कि जिस पर निर्णय देने के लिए हम अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

63. 1976 के दो संशोधन अधिनियमों पर, जिसके द्वारा लोकसभा की कालावधि में विस्तार किया गया था, विचार करते समय इन अधिनियमों में से प्रथम अधिनियम, 1976 के अधिनियम सं० 30 की, जो तारीख 16 फरवरी, 1976 को पारित किया गया था, धारा 2 में यह उपबन्ध है कि तत्कालीन लोकसभा के सम्बन्ध में पांच वर्ष की कालावधि एक वर्ष की कालावधि तक बढ़ाई जाएगी जब कि तारीख 3 दिसम्बर, 1971 और तारीख 25 जून, 1975 को जारी की गई आपात् की उद्घोषणा दोनों ही प्रवृत्त हैं।" विस्तार के द्वितीय अधिनियम में वही उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं। पिटीशनरों द्वारा यह दलील दी गई है कि तारीख 23 दिसम्बर, 1971 की उद्घोषणा तारीख 16 फरवरी, 1976 से बहुत समय पूर्व प्रत्याहृत कर ली जानी चाहिए थी, और तारीख 25 जून, 1975 की उद्घोषणा पूर्णतया अनावश्यक और असद्भाविक थी चूंकि पूर्व शर्त, जिस पर संसद् की कालावधि विस्तारित की गई थी, पूरी नहीं की गई थी। इसलिए यह दलील दी गई है कि अधिनियम संसद् की कालावधि का विस्तार करने के लिए अप्रभावी है। हम इस दलील को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस करते हैं। वास्तव में तारीख 16 फरवरी, 1976 को दोनों आपात् की उद्घोषणाएं प्रवृत्त थीं, जब प्रथम अधिनियम पारित किया गया था, तथा तारीख 24 नवम्बर, 1976 को भी प्रवृत्त थी जब 1976 का द्वितीय अधिनियम सं० 109 पारित किया गया था। हमारे लिए पिटीशनरों की यह दलील स्वीकार करना सम्भव

1980(11) eILR(PAT) SC 1

नहीं है कि उनके द्वारा समनुदेशित विभिन्न कारणों से प्रथम उद्घोषणा को अस्तित्व में नहीं माना जाना चाहिए और द्वितीय उद्घोषणा को असद्भाविक रूप से जारी किया हुआ माना जाना चाहिए। इसलिए वे दलीलें व्यर्थ हैं। हमारे समक्ष पेश किया गया साक्ष्य इन बातों में से किसी भी बात पर विनिश्चय अभिलिखित करने के लिए अपर्याप्त है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों अधिनियम विधिमान्य और वैध हैं जिनके द्वारा लोकसभा की कालावधि बढ़ाई गई थी। इसलिए 40वें और 42वें संविधान संशोधन को इस आधार पर अभिखण्डित नहीं किया जा सकता कि वे ऐसी लोकसभा द्वारा पारित किए गए थे जो वैध रूप से अस्तित्व में नहीं थी।

64. इसके पश्चात् तारीख 9 मई, 1980 को पारित किए गए आदेश के लिए हमारे चार कारण हैं, जो निम्नलिखित हैं—

"(1) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से संविधान में अनुच्छेद 31-क जोड़ा गया था और संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 की धारा 3, जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से मूल खण्ड (1) के स्थान पर नवीन खण्ड (1) और उपखण्ड (क) से (ङ) तक जोड़े गए थे, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी भी लक्षण या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त नहीं करते हैं और वे संसद् की संविधायी शक्ति में होने से विधिमान्य और संवैधानिक हैं।

(2) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-ख जोड़ा गया था, जो इस प्रकार है—

31-ख × × × ×

केशवानन्द भारती के मामले[1] में, जिसका विनिश्चय तारीख 24 अप्रैल, 1973 को किया गया था, बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संसद् को संविधान में ऐसा कोई संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है जिससे संविधान के मूल या आवश्यक लक्षण क्षतिग्रस्त या उसका मूल ढांचा या नष्ट हो। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के ऐसे सब संशोधन, जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 से पहले किए गए थे और जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को सम्मिलित

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० सी० 1.

करके उसका समय समय पर संशोधन किया गया था, विधिमान्य और सांविधानिक हैं। तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए संविधान के संशोधनों को, जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को जोड़कर के समय समय पर उसका संशोधन किया गया था, इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे या उनमें से कोई एक या अनेक संसद् की सांविधानिक शक्ति से बाहर हैं चूंकि वे संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करते हैं। हम ऐसे पश्चात्वर्ती सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में यह कहने के सिवाय कोई निर्णय नहीं देते हैं कि यदि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा नवम् अनुसूची में सम्मिलित कोई अधिनियम या विनियम अनुच्छेद 31-क या अनुच्छेद 31-ग द्वारा, जैसा कि वह उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, व्यावृत किया जाता है तो ऐसे सुसंगत सांविधानिक संशोधन की, जिसके द्वारा वह अधिनियम या विनियम नवम् अनुसूची में रखा गया है, विधिमान्यता की चुनौती इस आधार पर निरर्थक हो जाएगी कि संशोधन, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करते हैं, जैसा कि अनुच्छेद 14, 19 या 31 में परिलक्षित होता है।

(3) संविधान का अनुच्छेद 31-ग, जैसा कि वह संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 4 द्वारा उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, उस सीमा तक विधिमान्य है जिस तक कि उसकी सांविधानिकता को केशवानन्द भारती के मामले[1] में कायम रखा गया था। अनुच्छेद 31-ग, जैसा कि वह संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 से पूर्व विद्यमान था, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किन्हीं को या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है।

(4) महाराष्ट्र एग्रीकल्चरल लैण्ड्स सीलिंग ऐक्टस की विधिमान्यता से सम्बन्धित सब रिट पिटीशनें और पुनर्विलोकन पिटीशनें खर्चे सहित खारिज की जाती हैं। इन मामलों में मंजूर किए गए रोक आदेश रद्द हुए माने जाएंगे। हम खर्चे की रकम 5000 रुपये तय करते हैं जो 1977 के रिट पिटीशन सं० 656-660 और 1977 के रिट पिटीशन सं० 512-533 और 1977 के रिट पिटीशन सं० 505-511 के पिटीशनरों द्वारा समान रूप से वहन किया जाएगा। खर्चा भारत संघ और महाराष्ट्र राज्य को बराबर दिया जाएगा।

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

(5) 1977 का रिट पिटीशन सं० 63 (बाबूराव सामंत बनाम भारत संघ) सुनवाई के लिए रखा जाएगा।

न्यायाधिपति भगवती—

65. इस न्यायालय ने महाराष्ट्र एग्रीकल्चरल लैण्ड्स (सीलिंग आन होल्डिंग्ज) ऐक्ट, 1961 (1961 का 27) (विभिन्न पश्चात्वर्ती अधिनियमों द्वारा समय समय पर यथा संशोधित) की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने वाले रिट पिटीशनों का निपटारा करते हुए तारीख 9 मई, 1980 को आदेश किया था। इस आदेश में निम्नलिखित बातें थीं—

(1) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से संविधान में अनुच्छेद 31-क जोड़ा गया था और संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 की धारा 3, जिसके द्वारा भूतलक्षी रूप से मूल खण्ड (1) के स्थान पर नवीन खण्ड (1) और उपखण्ड (क) से (ङ) तक जोड़े गए थे, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में से किसी भी लक्षण या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त नहीं करती हैं और वे संसद् की संविधायी शक्ति में होने से विधिमान्य और सांविधानिक है।

(2) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31-ख जोड़ा गया था, जो इस प्रकार है—

31-ख × × ×

केशवानन्द भारती के मामले[1] में जिसका विनिश्चय तारीख 24 अप्रैल, 1973 को किया गया था। बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संसद् को संविधान में ऐसा कोई संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है जिससे कि संविधान का मूल ढांचा या उसके आवश्यक लक्षण क्षतिग्रस्त या नष्ट हों। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के ऐसे सब संशोधन जो तारीख 24 अप्रैल, 1973 से पहले किए गए थे और जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को सम्मिलित करके उसका समय समय पर संशोधन किया गया था, विधिमान्य और सांविधानिक हैं। तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए संविधान के संशोधनों को, जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूचि में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को सम्मिलित करके

---

1 [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

उसका समय समय पर संशोधन किया गया था, विधिमान्य और सांविधानिक हैं। तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए संविधान के संशोधनों को, जिनके द्वारा संविधान की नवम् अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों और विनियमों को जोड़कर के समय समय पर उसका संशोधन किया गया गया था, इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वे या उनमें से कोई एक या अनेक संसद् की सांविधानिक शक्ति से बाहर हैं और वे संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त करते हैं। हम ऐसे पश्चात्-वर्ती सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में यह कहने के सिवाय कोई निर्णय नहीं देते हैं कि यदि तारीख 24 अप्रैल, 1973 को या उसके पश्चात् किए गए किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा नवम् अनुसूचि में सम्मिलित कोई अधिनियम या विनियम अनुच्छेद 31-क या अनुच्छेद 31-ग द्वारा, जैसा कि वह उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, व्यावृत किया जाता है तो ऐसे सुसंगत सांविधानिक संशोधन की, जिसके द्वारा वह अधिनियम या विनियम नवम् अनुसूचि में रखा गया है, विधिमान्यता की चुनौती इस आधार पर निरर्थक हो जाएगी कि संशोधन संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट करते हैं जैसा कि अनुच्छेद 14, 19 या 31 में परिलक्षित है।

(3) संविधान का अनुच्छेद 31-ग, जैसा कि वह संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 4 द्वारा उसके संशोधन से पूर्व विद्यमान था, उस सीमा तक विधिमान्य है जिस तक कि उसकी सांविधानिकता को **केशवानन्द भारती के मामले**[1] में कायम रखा गया था। अनुच्छेद 31-ग जैसा कि वह संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 से पूर्व विद्यमान था, संविधान के मूल या आवश्यक लक्षणों में किन्हीं को या उसके मूल ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करता है।

(4) महाराष्ट्र एग्रीकलचरल लैण्डस सीलिंग ऐक्ट्स की विधिमान्यता से सम्बन्धित सब रिट पिटीशनें और पुनर्विलोकन पिटीशनें खर्चे सहित खारिज की जाती हैं। इन मामलों में मंजूर किए गए रोक आदेश रद्द हुए माने जाएंगे। हम खर्चे की रकम 5000 रुपये तय करते हैं जो 1977 के रिट पिटीशन सं० 656-660 और 1977 के रिट पिटीशन सं० 512-533 और 1977 के रिट पिटीशन

---

1 [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

सं० 505-511 के पिटीशनरों द्वारा समान रूप से वहन किया जाएगा। खर्चा भारत संघ और महाराष्ट्र राज्य को बराबर दिया जाएगा।

(5) 1977 का रिट पिटीशन सं० 63 (बाबूराव सामंत बनाम भारत संघ) सुनवाई के लिए रखा जाएगा।

इस आदेश के समर्थन में कोई कारण नहीं दिए गए थे, किन्तु यह बतलाया गया था कि कारण बाद में दिए जाएंगे। **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ**[1] के मामले में तारीख 31 जुलाई, 1980 को विसम्मत निर्णय देते समय मैंने इस आदेश को करने के लिए अपने कारण दिए थे। इसलिए उन कारणों को पुनः यहां दोहराना आवश्यक नहीं है, किन्तु उन्हें इस निर्णय के भाग के रूप में माना जा सकता है और मिनर्वा मिल्स के मामले[1] में मेरे निर्णय की प्रतिलिपि इस निर्णय के साथ जोड़ी जा सकती है। मैं यह बतलाना चाहूंगा कि मिनर्वा मिल्स के निर्णय के पृष्ठ 1 से 6 और पृष्ठ 17 से 36 तक में तारीख 9 मई, 1980 का आदेश करने के कारण उल्लिखित किए गए थे और मैं उन कारणों की पुनः पुष्टि करता हूं।

66. मुझे विद्वान मुख्य न्यायाधिपति द्वारा हाल ही में दिए गए निर्णय को पढ़ने का लाभ मिला है किन्तु मैं उनसे इस बात पर सहमत होने के लिए अपने आप को असमर्थ पाता हूं कि "अनुच्छेद 31-क को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त लागू करना कुछ कठिन है तथा उस अनुच्छेद की विधिमान्यता को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण का सिद्धांत लागू करना उचित नहीं होगा।" मैंने अनुच्छेद 31-क की सांविधानिक विधिमान्यता को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त लागू करने के लिए मेरे निर्णय में कारण दिए हैं किन्तु मेरे मत के समर्थन में मेरे द्वारा दिए गए कारणों के अतिरिक्त मैं यह पाता हूं कि **अम्बिका प्रसाद मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[2] के मामले में उसी न्यायपीठ ने, जो प्रस्तुत रिट पिटीशनों का विनिश्चय कर रही है, निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त लागू करके अनुच्छेद 31-क की सांविधानिक विधिमान्यता को कायम रखा है। उस मामले में सर्वसम्मत न्यायालय की ओर से न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 146=[1980] 3 एस० सी० सी० 625.

[2] [1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० सी० 719.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

"यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि ऐसे कई विनिश्चयों के अतिरिक्त भी, जिसमें अनुच्छेद 31-क का समर्थन किया गया है, जैसा कि गोलकनाथ के मामले (1967) 2 एस० सी० आर० 762, में 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा विनिश्चय किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम में विधायी शक्ति का अतिक्रमण किया है, फिर भी स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया था कि उक्त संशोधन और उसके समान कुछ अन्य संशोधन भविष्यलक्षी रूप से उलटने के सिद्धान्त के आधार पर विधिमान्य बने रहेंगे। हमारे प्रयोजन के लिए परिणाम यह है कि गोलकनाथ के मामले (1967) 2 एस० सी० आर० 762, में भी अनुच्छेद 31-क को विधिमान्य अभिनिर्धारित किया गया था। गोलकनाथ के मामले (1967) 2 एस० सी० आर० 763, के निर्णय को उलटने वाले पश्चात्वर्ती मामलों में अभिलिखित टिप्पणी भी अनुच्छेद 31-क की शक्तियों के प्रतिकूल नहीं है। यह कहना पर्याप्त होगा कि केशवानन्द भारती के मामले [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 1, में अनुच्छेद 31-क को संसद् की संशोधित शक्ति से परे रूप में चुनौती दी गई थी और इसलिए वह अविधिमान्य है। किन्तु बहुत से वरिष्ठ काउन्सलों के पांडित्यपूर्ण तर्क सुनने के पश्चात् इस न्यायालय के 13 न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने स्पष्ट शब्दों में अनुच्छेद 31-क की शक्तियों को कायम रखा था। वह विनिश्चय निर्णीतानुसरण के सामान्य आधार पर और अनुच्छेद 141 के सांविधानिक आधार पर आबद्ध है। प्रत्येक नया आविष्कार या तर्कसंगत नवीनता आबद्धकर पूर्वोदाहरण को अकृत नहीं कर सकती या उस पर पुनर्विचार के लिए बाध्य नहीं कर सकती। इस दृष्टि से अन्य दलीलें, जो चमकदार हों और सृजनात्मक कौशल से बलपूर्वक दी गई हों, हमें उन बातों पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित नहीं कर सकतीं जो ऐतिहासिक मूल अधिकारों के मामले में पवित्र प्रतिपादना के रूप में राष्ट्र के मार्गदर्शन के लिए अधिकथित की गई थी।"

ये मत शंका से परे यह बात दर्शाते हैं कि किसी न्यायपीठ ने निर्णीतानुसरण के साधारण आधार पर अनुच्छेद 31-क को सांविधानिक रूप से विधिमान्य अभिनिर्धारित किया था। यह सही है कि न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने

1980(11) eILR(PAT) SC 1

अम्बिका प्रसाद मिश्र के मामले[1] में अपने निर्णय के प्रारम्भ में ही यह कहा है —

> "इस निर्णय में हम अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग के सांविधानिक संशोधनों की शक्तियों से सम्बन्धित बड़े विवाद्यक पर विचार नहीं करेंगे चूंकि उन पर हाल ही में निपटाए गए अन्य मामलों में विचार किया जा चुका है।"

यह कथन सम्भवतः इसलिए किया गया था क्योंकि विद्वान न्यायाधीश ने अवश्य ही उस समय यह सोचा होगा कि जब तक वे इस मामले में अपना निर्णय तैयार करेंगे तब तक वर्तमान रिट पिटीशनों का निर्णय उनके द्वारा निर्णय दिए जाने से पूर्व ही दे दिया गया होगा और इस उपधारणा पर विद्वान न्यायाधीश ने अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग की सांविधानिक विधिमान्यता से सम्बन्धित तर्कों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा। किन्तु जहां तक अनुच्छेद 31-क का सम्बन्ध था, विद्वान न्यायाधीश ने अवश्य ही यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 31-क निर्णीतानुसरण के साधारण आधार पर सांविधानिक रूप से विधिमान्य था तथा अन्य चार विद्वान न्यायाधीशों ने इस मत का समर्थन किया था। यह बात भी सही है कि न्यायाधीश कृष्ण अय्यर ने अपने निर्णय को सम्पूर्ण रूप से अनुच्छेद 31-क की संरक्षणात्मक ढाल पर आधारित नहीं किया है और यह बतलाया है कि स्वतंत्र रूप से अनुच्छेद 31-क, आक्षेपित विधान, सांविधानिक अतिक्रमण का सामना कर सकता है तथा गुणता के आधार पर आक्षेपित विधान की विधिमान्यता को कायम रखा था। किन्तु इस पर भी उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 31-क निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त के आधार पर सांविधानिक रूप से विधिमान्य था और यह मत व्यक्त किया था कि स्पष्ट रूप से उस उपयोगी उपबन्ध की व्यापक शब्दावली की संरक्षणात्मक परिधि में वर्तमान अधिनियम आता है तथा मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उस अनुच्छेद का अविवादग्रस्त प्रभाव उस अधिनियम में उल्लिखित सीमा तक अविधिमान्यकरण के विरुद्ध अधिनियम को मुक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इसलिए मैं विद्वान मुख्य न्यायाधिपति के प्रति आदर होने के बावजूद भी उनसे इस बात पर सहमत नहीं हो सकता कि निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का अनुच्छेद 31-क की विधिमान्यता को कामय रखने के लिए अवलम्ब नहीं लिया जा सकता क्योंकि वह उस बात के प्रत्यक्ष रूप से प्रतिकूल

---

[1] [1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० सी० 719.

1980(11) eILR(PAT) SC 1

होगी जो अम्बिका प्रसाद मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[1] के मामले में इसी न्यायापीठ द्वारा अभिनिर्धारित की गई है ।

न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर—

67. मैं विद्वान मुख्य न्यायाधिपति से सहमत हूं फिर भी मैं यह कहना चाहूंगा कि अनुच्छेद 31-क, 31-ख और 31-ग के सम्बन्ध में कतिपय मत आवश्यकता से अधिक व्यापक हैं और मैं मिनर्वा मिल्स के मामले[2] में किए गए विनिश्चय के बावजूद भी उस पर विचार करना नहीं चाहता हूं। मैं अनुच्छेद 31-क को कायम रखने के लिए निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त को लागू करने के बारे में व्यापक मतों के सम्बन्ध में एक उपरिका जोड़ना चाहूंगा। मैंने स्पष्ट रूप से निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त का अवलम्ब लेकर के अनुच्छेद 31-क को अभिव्यक्त रूप से कायम रखा है और किसी प्रतिकूल स्थिति में प्रवर्तित होने के लिए कोई विश्वसनीय न्यायिक आधार के बिना मैं अपने मत से पीछे नहीं हट सकता । मैं यह जानता हूं कि न्यायाधीश होम्स ने यह कहा है "कभी भी दृढ़ मत रहो किन्तु साधारण तौर पर सच्चे रहो ।" मैं राल वाल्डो एमरसन की सुदृढ़ प्रतिक्रिया का स्मरण करा रहा हूं, जो इस प्रकार है—

> "अंधानुकरण मंद बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए हुआ है जिसे छोटे राजनयिकों, दार्शनिकों और पैगम्बरों द्वारा मान्यता दी जाती है स्थिरता से महान व्यक्ति का कोई लगाव नहीं होता है । उसकी विचारधारा अपने स्वयं के धुंधले विचारों तक सीमित रहती है । आप जो आज सोचते हैं उसे दृढ़ता से कहें और आप जो कल सोचते हैं उसे कल पुनः दृढ़ता से कहें यद्यपि वह उस प्रत्येक बात के प्रतिकूल हो सकता है जो आपने आज कही है । इससे आप निश्चित रूप से गलत समझे जाएंगे, क्या यह गलत समझे जाने की बजाय अधिक बुरा है ? पैथागोरस को गलत समझा गया था और इसी प्रकार सुकरात, जीसस, लुथर, कापरनिकस, गेलिलिओ और न्यूटन और प्रत्येक दैवआत्मा को भी गलत समझा गया था । गलत समझा जाना ही महानता की निशानी है ।"

68. और फिर मैं उस बात की पुष्टि करता हूं जो मैं पहले अम्बिका प्रसाद मिल्स के मामले[1] में कह चुका हूं । सादर विद्वान मुख्य न्यायाधिपति के

---

[1] [1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० सी० 719.

[2] [1981] 3 उम० नि० प० 146=[1980] 3 एस० सी० सी० 625.

[3] [1981] 2 उम० नि० प० 985=[1980] 3 एस० सी० सी० 719.

1980(11) eILR(PAT

प्रति आदर व्यक्त करते हुए मैं यह कहने का साहस करता हूं कि उनका मत यह है कि सांविधानिक विवाद्यकों में पूर्वोदाहरणों पर बल देना फिजूल है क्योंकि हम बीती हुई बातों द्वारा शासित नहीं हो सकते और यह उचित है कि हम सतत रूप से गलत बने रहने की बजाय अन्ततोगत्वा सही हो जाए। इस पर भी सादर मैं यह कहना चाहूंगा कि आबद्धकर मत सामान्यतया आबद्धकर विनिर्णय होते हैं जब तक कि उन्हें बृहत् न्यायपीठ द्वारा उलटा न जाए। यह न्यूनतम मूल्य है जो हम न्यायशास्त्र, आबद्धकर पूर्वोदाहरणों को अपनाने के लिए संदाय करते हैं। मैं इस बात को यहीं छोड़ देता हूं क्योंकि विद्वान मुख्य न्यायाधिपति ने आक्षेपित अधिनियम को अपने स्वयं के अधिकार से अच्छा माना है। यद्यपि आज तक इसके काफी बुरे परिणाम हो चुके हैं।

रिट पिटीशन और पुनर्विलोकन पिटीशन खारिज किए गए।

जैन/